त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३४ : किरण १

जनवरी-मार्च १९८१

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	णमोकार-महिमा	१
२.	श्वेताम्बर जैन पंडित-परम्परा— श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर	२
३.	आचार्य नेमिचन्द्र और उनका द्रव्य संग्रह— डा० कमलेशकुमार जैन	४
४.	आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है— श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	१३
५.	आनन्द कहां है ?— श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली	१८
६.	जैन संस्कृति में दसवीं-बारहवीं सदी की नारी—डा० श्रीमती रमा जैन	१९
७.	दक्षिण की जैन परंपरा— पं० मल्लिनाथ जैन शास्त्री, मद्रास	२१
८.	यूनानी दर्शन और जैन दर्शन— डा० रमेशचन्द जैन	२४
९.	हिन्दी साहित्य में नेमि राजुल— डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल,	३०

सम्पादन-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
श्री गोकुलप्रसाद जैन

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए.; एल-एल.बी.;
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस किरण का मूल्य
१ रुपये ५० पैसे

प्रकाशक
वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन

जैन लक्षणावली

□ श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म एक वैज्ञानिक और विश्वकल्याणकारी धर्म है तीर्थंकरो ने महान् साधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया और उनके द्वारा विश्वसत्वों का स्वरूप तथा शान्ति व कल्याण का मार्ग जो कुछ भी उनके ज्ञान मे झलका, प्राणी मात्र के कल्याण के लिए ही, जगह-जगह घूमकर वर्षों तक लोक भाषा मे प्रचारित किया। अपने ज्ञान को दूसरो तक पहुचाने के लिए शब्दो का सहारा लेना ही पड़ता है। बहुत से नये-नये शब्द गढने भी पड़ते है। फिर भी सर्वज्ञ का ज्ञान बहुत थोड़े रूप मे ही प्रचारित हो पाता है, क्योकि वह शब्दातीत व अनन्त होता है। शब्द सीमित है। ज्ञान असीम है। जैनधर्म की अपनी मौलिक विशेषताएँ है। वह उनके पारिभाषिक शब्दों से प्रकट होता है। बहुत से शब्द जैन ग्रन्थों मे ऐसे प्रयुक्त हुए है जो अन्य किसी ग्रन्थ व कोष ग्रन्थो मे नही पाये जाते। कई शब्द मिलते भी है तो उनका अर्थ वहा जैन ग्रन्थो में प्रयुक्त अर्थो से भिन्न पाया जाता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सहित कोश प्रकाशित होना बहुत ही आवश्यक और अपेक्षित था, और अब भी है। अग्रेजी भाषा आज विश्व मे विशिष्ट स्थान रखती है पर जैन ग्रन्थों के बहुत से शब्दो के सही अर्थ व्यक्त करने वाले बहुत से शब्द उस भाषा मे मिले हुए है। यह जैन ग्रन्थो के अग्रेजी अनुवादको को अनुभव होता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दो के पर्यायवाची अग्रेजी शब्दो के एक बड़े कोष की आवश्यकता आज भी अनुभव की जा रही है।

ढाई हजार वर्षोंमें शब्दोंके अनेक रूप और अर्थ हुए है। उनमे परिवर्तन हो जाना स्वभाविक है। अनेकों आचार्यों, मुनियो और विद्वानो ने एक-एक पारिभाषिक शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। अतः एक ही शब्द के अर्थ और अर्थान्तर बहुत प्रकार के पाये जाते है। किस-किस ने किस पारिभाषिक शब्द का किस तरह व्याख्यान किया है इसका पता लगाने का कोई साधन नही था। इस कमी की पूर्ति और ऐसे ही एक कोष की आवश्यकता का अनुभव स्व० श्री जुगलकिशोर जी मुख्तियार को हुआ और उन्होने इस काम का अपने ढंग से प्रारम्भ किया। पर वह काम बहुत बड़ा था और वे अन्य कामो मे लगे रहते थे। इसलिए इसे पूरा करना उनके लिए सम्भव नही हो पाया। कुछ व्यक्तियो के सहयोग से इस प्रयत्न को आगे बढाने का प्रयत्न किया गया। पर वर्षो तक एकनिष्ठ होकर उसे पूरा कर पाना संभव नही हो पाया। वह पूरा करने का श्रेय पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री को मिला। वर्षों से वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली में मैं जब भी दिल्ली जाता हू तो वीर सेवा मन्दिर मे भी पहुंचता हूं। अतः पं० बालचन्द्र जी के काम का मुझे अनुभव भी है। अब यह काम पूरा हो गया। इससे मुझे व उन्हे दोनो को संतोष है।

जैन लक्षणावली ग्रन्थ के निर्माण मे सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता तो यह रही है कि दि० और श्वे० दोनों सम्प्रदायों के करीब ४०० ग्रन्थों के आधार से यह महान् ग्रन्थ तैयार किया गया है। एक-एक जैन पारिभाषिक शब्द की व्याख्या किस आचार्य ने किस ग्रंथ मे किस रूप मे की है इसकी खोज करके उन ग्रन्थो का आवश्यक उद्धरण देते हुए हिन्दी मे उन व्याख्याओ का सार दिया गया है। इससे उन-उन ग्रन्थों के उद्धरणो के ढूंढ़ने का सारा श्रम बच गया है, और हिन्दी मे उन व्याख्याओं का सार लिख देने से हिन्दी वालो के लिए यह ग्रंथ बहुत उपयोगी हो गया है। ४०० ग्रन्थों के करीब का संक्षेप या मंथ दोहन इसी एक ग्रन्थ में कर देना वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। पं० बालचन्द्र जी ने तो वर्षों तक परिश्रम करके जिज्ञासु के लिए बहुत बड़ी सुविधा उपस्थित कर दी है इसके लिए वे बहुत ही धन्यवाद के पात्र है। वीर सेवा मन्दिर ने काफी खर्चा उठा कर बड़े अच्छे रूप मे इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इसके लिए संस्था व उसके कार्यकर्ता भी धन्यवाद के पात्र है।

जैन लक्षणावली इसका दूसरा नाम जैन पारिभाषिक शब्द कोष रखा गया है। इसके तीन भाग हैं जिनमें १२२० पृष्ठों मे पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और अर्थ अकारादि क्रम से दिये गये है। पहले के दो भागों मे जिन-जिन ग्रन्थकारों के जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग इस ग्रन्थ मे हुआ है उनका विवरण भी दिया गया था तीसरे भागके ८४ पृष्ठों की प्रस्तावना मे बहुत सी शब्दों संबंधी विशेष बाते देकर ग्रन्थ की आंशिक पूर्ति कर दी गयी है। पं० की अस्वस्थता के कारण तीसरा भाग काफी देरी से प्रकाशित हुआ। पर यह सन्तोष का विषय है कि इसके प्रकाशन से यह काम पूरा हो गया। अब कोई भी व्यक्ति जैन लक्षणावली के तीनों भागो से किसी भी जैन पारिभाषिक शब्द के संबंध मे आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है। पहले दो भागों का मूल्य तो २५-२५ रुपये रखा गया था और अब मंहगाई बढ जाने से तीसरे भाग का मूल्य ४० रुपये रखा गया है और तीनों भागों का मूल्य १२० रुपये कर दिया गया है। यह ग्रन्थ संग्रहणीय एवं बहुत काम का है इसलिए सभी जैन ग्रन्थालयों को खरीदना ही चाहिये।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण १ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ | वीर-निर्वाण सवत् २५०७, वि० स० २०३७ | जनवरी-मार्च १९८१

णमोकार-महिमा

घणघाइकम्ममहणा, तिहुवणवरभव्व-कमलमत्तण्डा ।
अरिहा अणंतणाणी, अणुवमसोक्खा जयंतु जए ॥१॥
अट्ठविहकम्मवियला, णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा ।
दिट्ठसयलत्थसारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥२॥
पंचमहव्वयतुंगा, तक्कालिय-सपरसमय-सुदधारा ।
णाणागुणगणभरिया, आइरिया मम पसीदंतु ॥३॥
अण्णाणघोरतिमिरे, दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा, उवज्झाया वरमदिं देंतु ॥४॥
थिरधरियसीलमाला, ववगयराया जसोहपडिहत्था ।
बहुविणयभूसियंगा, सुहाइं साहू पयच्छंतु ॥५॥

भावार्थ—सघन-घाति कर्मों का आलोडन करने वाले, तीनों लोकों मे विद्यमान भव्यजीवरूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य, अनन्तज्ञानी और अनुपम सुखमय अरहंतों की जगत् में जय हो।

अष्टकर्मों से रहित, कृतकृत्य, जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त तथा सकलतत्त्वार्थ के द्रष्टा सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें।

पंचमहाव्रतों से समुन्नत, तत्कालीन स्व-समय और पर-समयरूप श्रुत के ज्ञाता तथा नाना-गुणसमूह से परिपूर्ण आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों।

जिसका ओर-छोर पाना कठिन है, उस अज्ञानरूपी घोर अंधकार में भटकने वाले भव्य-जीवों के लिए ज्ञान का प्रकाश देने वाले उपाध्याय मुझे उत्तम मति प्रदान करें।

शीलरूपी माला को स्थिरतापूर्वक धारण करने वाले, संगरहित, यशःसमूह से परिपूर्ण तथा प्रवर विनय से अलंकृत शरीर वाले साधु मुझे सुख प्रदान करें।

श्वेताम्बर जैन पंडित-परम्परा

□ श्री अगरचंद नाहटा, बीकानेर

पंडित किसे कहा जाय, यह एक समस्या है। साधारणतया किसी भाषा या विषय के विशिष्ट अध्येता या विद्वान को पंडित कहा जाता है, जब कि गीता के अनुसार पंडित बहुत बड़ी साधना का परिणाम है। अत: पंडित में ज्ञान के साथ साथ साधना भी उसमे अच्छे रूप में होना चाहिये। जैन परम्परा में ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः कहा है, अर्थात ज्ञान और क्रिया यानि आचरण, सदाचार और साधना इन दोनो के सम्मिलन से मोक्ष मिलता है। जैनाचार्य और मुनिगण ज्ञानी और सदाचारी होते थे। इसलिये वास्तविक रूप में 'पंडित' कहलाने के वे ही अधिकारी है। श्वेताम्बर समाज मे मुनिगण, जब अमुक सीमा तक का अभ्यास कर लेते है, तो उन्हे 'पन्यास' पद से विभूषित किया जाता है। पन्यास का संक्षिप्त रूप 'पं०' उनके नाम के आगे लिखा हुआ मिलता है। इस दृष्टि से श्वेताम्बर पंडित परम्परा आचार्यों और मुनियो से प्रारम्भ हुई, कहा जा सकता है।

दिगंबर-संप्रदाय मे मुनि के लिये शायद ऐसा कोई योग्यता या पद का प्रचार नहीं रहा, मध्य काल मे तो भट्टारक-सप्रदाय मे विद्वान काफी हुए, पर आचार मे वे जरा शिथिल थे। गृहस्थो मे जो विद्याध्ययन करने के बाद स्वाध्याय मंडली मे ग्रथो का वांचन करते व दूसरो को सुनाते और धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न कराते है, वे पंडित के रूप मे पहिचाने जाते है। श्वेताम्बर समाज मे ऐसी परम्परा तो नही रही, क्योकि दिगम्बर समाज मे तो मुनियो की सख्या बहुत ही कम रही। जबकि श्वेताम्बर आचार्यों व मुनियों की संख्या सदा से काफी रही अत: श्रावकों की पंडित-परम्परा, दिगंबर-सम्प्रदाय की तरह नही चल पाई। मध्यकाल में भट्टारकों की तरह श्वेताम्बर समाज मे श्री पूज्यो व यतियो की परम्परा अवश्य चली। लम्बे समय तक वे धर्म-प्रचार, व्याख्यान देने व धार्मिक क्रियाओ को कराते और वैद्यक ज्योतिष के अन्य उपयोगी कार्यों को सम्पन्न कराते रहे इसलिए वैसे पंडितों की परम्परा अवश्य चलती रही। ऐसे यतियों की संख्या भी काफी अधिक थी। इसलिये श्रावक लोगो को संस्कृत प्राकृत भाषायें सीखने व शास्त्रीय ग्रंथो में विद्वता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रही। अत: ११वी शताब्दी से ही श्वेताम्बर श्रावको मे विद्वान, ग्रन्थकार, तो बराबर होते रहे। पर दिगंबर विद्वानों की तरह वे स्वाध्याय-गद्दी पर बैठ कर शास्त्रो के वाचन आदि का काम नही करते थ। क्योकि वह कार्य तो मुनियों और यतियो के द्वारा अच्छी तरह चल ही रहा था। और उनकी सख्या भी काफी थी। अत: यहा श्वेताम्बर पंडित-परम्परा पर प्रकाश डालते हुये मैं श्वेताम्बर श्रावक-ग्रथकारो पर ही कुछ प्रकाश डालूंगा।

श्वेताम्बर ग्रन्थकारो मे सबसे उल्लेखनीय पहला विद्वान है - कवि धनपाल। जो कि धारा के विद्या-विलासी महाराजा भोज के सभा-पंडित थे। वे मूलत: ब्राह्मण पंडित थे। पर जैनाचार्यों के सम्पर्क मे आय और उनका भाई सोमन तो जैन दीक्षित साधु भी बन गया। इसलिए कवि धनपाल ने भी जैनधर्म स्वीकार कर लिया। कादम्बरी के समान उन्होंने 'तिलक मंजरी' संस्कृत गद्य-कथा की रचना करके बड़ी ख्याति प्राप्त की। अपने भाई सोमन मुनि के रचित ग्रन्थ चतुर्विंशतिका की संस्कृत टीका बनाई। प्राकृत मे रिषभपंचाशिका और संस्कृत म भी तीर्थंकरो की स्तुतिमय रचनाये की। अपभ्रंश व तत्कालीन लोक-भाषा मे उन्होंने सत्यपुरीय महावीर उत्साह नामक स्तुति-काव्य बनाया है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बडे महत्व की रचना है। इसकी एक मात्र प्रति मिलती है जिसके आधार से मुनि जिनविजयजी ने जैन साहित्य संशोधक मे इसे प्रकाशित कर दी है।

१२वी शताब्दी मे नागौर के श्रेष्टी धनदेव के पुत्र पद्मानन्द ने वैराग्य शतक नामक मुक्तक काव्य की रचना की है। जो 'काव्य माला' मे बहुत वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका है। यह खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनवल्लभ-सूरि जी के भक्त थे। वैराग्य शतक की प्रशस्ति-श्लोक मे इसका उल्लेख उन्होंने स्वय किया है। नागौर में उनके पिता धनदेव ने नेमिनाथ का मंदिर बनाया था। जिसकी प्रतिष्ठा जिनवल्लभसूरि ने की थी। पद्मानंद के वैराग्य शतक की एक नई आवृति भी छप गई है।

१२-१३वी शताब्दी मे श्वेताम्बर श्रावकों मे कई

ग्रंथकार हुये है। जिनमे वाग्भट्ट ने वाग्भट्टालंकार की रचना की। कपूरचंद ने एक प्रकरण बनाया। जो हमारे मणिधारी जिनचंद्रसूरि ग्रंथ मे प्रकाशित हो चुके है। १३वी शताब्दी के उल्लेखनीय श्वेताम्बर श्रावक-ग्रंथकारो में भिल्लमल कुल के कवि 'ग्रासड' हो गये है। जिनको कवि सभा शृंगार का उपमान मिला। उन्होने मेघदूत की सबसे पहली टीका बनाई। पर वह अभी उपलब्ध नही है। उनकी प्राकृत की दो रचनायें उपदेश-कदली और 'विवेक-मंजरी' प्राप्त है विवेकमंजरी पर बालचंद्रसूरि ने विस्तृत टीका बनाई है। विवेकमंजरी का रचनाकाल सं० १२४८ है। ग्रासड कवि ने जिन स्तोत्र, स्तुति आदि और भी कई रचनायें बनाई थी पर वे अब प्राप्त नही है। संवत् १२५५-६० के आस-पास मरुकोट के नेमिचंद भंडारी भी प्रसिद्धग्रंथकार है, जिनके रचित 'षष्टीशतक' ग्रंथ की श्वेताम्बर समाज में तो इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई कि उसकी संस्कृत व भाषा टीकायें तथा पद्यानुवाद मेरी जानकारी में १२ है। दिगंबर सम्प्रदाय मे भी यह 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' के नाम से प्रसिद्ध है। और इस पर दि० भागचंद ने संवत् १९१२ मे वचनिका बनाई, सो प्रकाशित भी हो चुकी है।

१३वी शताब्दी में ही 'कवि-चक्रवर्ती' श्रीपाल ने कई प्रशस्ति काव्य और शतार्थो की रचना की और यशपाल ने 'मोह-पराजय नाटक बनाया। १३वीं शताब्दी के अन्त मे महामंत्री वस्तुपाल ने बसंतविलास महाकाव्य की रचना की। तथा और भी कई विद्वान हुये है।

१४वी शताब्दी के उल्लेखनीय श्वेताम्बर श्रावक ग्रंथकार 'ठक्कुर फेरु' है। वे अपने ढंग के एक ही ग्रंथकार थे। जिन्होने वास्तुशास्त्र, मुद्राशास्त्र, गणित और ज्योतिष शास्त्र, आदि विषयो की ७ रचनायें बनाई, जो हमे प्राप्त १ मात्र प्रति के आधार से मुनि जिनविजय जी ने 'रत्नपरीक्षादि ग्रन्थ सप्तक' मे प्रकाशित कर दी है। रत्न-परीक्षा, द्रव्य-परीक्षा, धातु उत्पत्ती आदि के हिन्दी अनुवाद भी हमने प्रकाशित कर दिये है।

१५वी शताब्दी के विशिष्ट ग्रंथकार मांडवगढ़ के कवि मंडन है। ये भी ठक्कुर फेरु की तरह खरतरगच्छ के थे, उन्होंने भी व्याकरण अलंकार काव्य संगीत आदि कई विषयों के महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाये। जिनमें से कई ग्रन्थ तो मंडन ग्रंथावली भाग १-२ मे प्रकाशित हो चुके है। संगीत मंडन आदि ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। ये श्रीमाल जाति के और बड़े प्रभावशाली व्यक्ति थे। इन्ही के परिवार में धनद नामक कवि हुये हैं। जिनके रचित शतकत्रय प्रकाशित हो चुके है। मांडव गढ के ही तपा-गच्छीय श्रावक संग्रामसिंह ने 'बुद्धिसागर' ग्रंथ बनाया। संवत १५२० में रचित यह ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुका है।

ऊपर प्राकृत और संस्कृत के श्वेताम्बर श्रावक ग्रंथकारों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। लोक-भाषा के भी कई अच्छे कवि हो गये हैं उन कवियों की परम्परा भी १३वीं शताब्दी से निरंतर चालू रही। संवत् १२५० के आस-पास 'आसिगु' कवि ने चंदनबाला रास और जीवदया रास की रचना की। ये दोनों प्रकाशित हो चुके हैं। इसी शताब्दी में खरतरगच्छ के २ श्रावक कवियों ने 'जिनपतिसूरि गीत' बनाये जो हमारे संपादित ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह मे छप चुके हैं। १४वी-१५वी शताब्दी मे कान्ह कवि ने अंचलगच्छ की गुरु परम्परा संबंधी काव्य बनाया। महाकवि ने तीर्थमाला व राणकपुर स्तवन आदि की रचना की। १७वी शताब्दी के कवि रिषभदास तो बहुत ही उल्लेखनीय कवि है। जिन्होंने हीरविजय सूरि रास आदि अनेको काव्यों की रचना की। इसी शताब्दी के सुप्रसिद्ध कवि बनारसीदास भी श्वेताम्बर खरतरगच्छ के अनुयायी थे। उनकी प्राथमिक रचनायें श्वेताम्बर ग्रंथों और मान्यताओं पर आधारित है पर आगे चल कर वे समयसार गोमट्टसार आदि दिगबर ग्रंथों से प्रभावित हुये। उनका एक 'आध्यात्मिक मत' स्वतन्त्ररूप से प्रचारित हुआ, जो वर्तमानमे दिगबर तेरापथी संप्रदायके रूप मे प्रसिद्ध है।

१८वी शताब्दी में दलपतराय, १९वीं शताब्दी मे हुरजमराय, और मवलदास, तथा विनयचंद कवि हुये। २०वी शताब्दी में भी यह परम्परा चालू रही। श्वेताम्बर विद्वानों और ग्रंथकारो की २०वी की उत्तरार्द्ध मे काफी अभिवृद्धि हुई। इस तरह श्वेताम्बर विद्वानों और कवियों तथा उनकी रचनाओं पर संक्षिप्त मे ही यहां प्रकाश डाला गया है। कई श्वेताम्बर विद्वानों को भी अपने श्रावक-कवियों एवं विद्वानो की परम्परा की जानकारी नही है। इसलिए यह प्रयास काफी उपयोगी सिद्ध होगा।

नाहटों की गवाड़, बीकानेर

□□□

आचार्य नेमिचन्द्र और उनका द्रव्यसंग्रह

☐ डा० कमलेशकुमार जैन

उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् हुए है जिन्होने अपनी उदात्त मनीषा का परिचय देते हुए भव्य जीवों के कल्याणार्थ विभिन्न मौलिक एव टीका ग्रन्थों का सृजन किया है। पर्याप्त शोध खोज के अभाव मे अब तक नेमिचन्द्र नाम के एकाधिक विद्वानों मे ऐक्य माना जाता रहा है, किन्तु ऐतिहासिक आलोकन-विलोकन से अब यह मान्यता प्राय: पुष्ट हो गई है कि गोम्मटसारादि के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और द्रव्य संग्रह के कर्त्ता मुनि नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव दो पृथक पृथक्-पृथक् विद्वान है, एक नहीं।

प्रारम्भ मे श्री शरच्चन्द्र घोषाल ने अपने द्रव्यसग्रह के अंग्रेजी संस्करण की विस्तृत भूमिका मे गोम्मटसारादि के कर्त्ता और द्रव्यसग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र को एक मानते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव के इस कथन को अस्वीकार किया था कि नेमिचन्द्र का अस्तित्व मालवा के राजा भोज के राज्यकाल ई० सन् १०१८ से १०६०[1] मे था, क्योकि उपर्युक्त समय में उसका अस्तित्व मानने के अन्य विभिन्न स्रोतों से सिद्ध नेमिचन्द्र का समय ईसा की दशवी शती के स्थान पर ईसा की ग्यारहवी शती हो जाता है। श्री घोषाल के इस कथन पर आपत्ति प्रकट करते हुए आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने "जैन हितैषी" मे "द्रव्य-संग्रह का अंग्रेजी संस्करण"[2] नामक एक लेख मे लिखा था कि यह आपत्ति तभी उपस्थित होती है जबकि पहले यह सिद्ध हो जाय कि यह द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ उन्ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का बनाया हुआ है जो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के कर्त्ता है। आचार्य मुख्तार की उक्त आशका तत्कालीन शोध-खोज प्रेमियों को एक चुनौती साबित हुई, जिससे परवर्ती विद्वानो ने न केवल उक्त दोनो ग्रन्थकर्त्ताओं में भिन्नता स्वीकार की, अपितु विभिन्न प्रमाणो को उद्धृत कर उक्त कथन की पुष्टि भी की।

नेमिचन्द्र नाम के विद्वान् :

डा० दरबारीलाल कोठिया ने नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वानो पर विचार करते हुए नेमिचन्द्र नाम के भिन्न-भिन्न निम्न चार विद्वानो का उल्लेख किया है[4]—

१. सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित एव गोम्मटसार आदि के प्रणेता तथा गंगवंशीय राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु नेमिचन्द्र। इनका समय विक्रम सवत् १०३५ ईसा की दशवी शती है।[4]

२. नयनन्दि के शिष्य और वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव के गुरु नेमिचन्द्र।

३. गोम्मटसार की जीवतत्त्व प्रदीपिका के टीकाकार नेमिचन्द। इनका समय ईसा की सोलहवी शताब्दी है।

४. द्रव्य संग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र।

उपर्युक्त चार विद्वानो मे से दूसरे एवं चौथे नेमिचन्द्र को डा० कोठिया[5] ने विभिन्न प्रमाणो के आधार पर एक सिद्ध करते हुए द्रव्यसग्रह के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धातदेव का समय विक्रम सवत् ११२५ ईसा की ग्यारहवी शती के आस-पास निर्धारित किया है तथा डा० नेमिचन्द्र शास्त्री[6] ने विक्रम की बारहवी शती का पूर्वार्ध। ये दोनो मत एक ही समय की ओर इगित करते है।

नेमिचन्द्र नाम के उपर्युक्त विद्वानो के अतिरिक्त

---

१. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना, पृष्ठ ९४।

२. द्रष्टव्य-युग निबन्धावली, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५३१-५५६।

३. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २९-३२।

४. वही प्रस्तावना, पृष्ठ २९।

५. द्रव्यसग्रह प्रस्तावना, पृष्ठ ३२-३६।

६ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा, खण्ड २, पृष्ठ ४४१।

प्रवचनसारोद्धार के कर्त्ता भी नेमिचन्द्रसूरि है, जो ईसा की तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् है, किन्तु ये विद्वान् श्वेताम्बर आम्नाय के है।[1] अतः इनका द्रव्यसग्रह से कोई सम्बन्ध नही है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती और मुनि नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव :

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ईसा की दसवी शताब्दी के सुप्रसिद्ध गगवशीय राजा राचमल्ल के प्रधान सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे। उन्होंने गोम्मटसार कर्मकाण्ड की अन्तिम प्रशस्ति[2] मे गोम्मटराय का अपरनाम चामुण्डराय ससम्मान उल्लेख किया है तथा जीवकाण्ड की अन्तिम गाथा[3] में तो उन्होंने श्री गोम्मटराय के अतिरिक्त अपने गुरु अजितसेन एव दादा-गुरु आचार्य आर्यसेन का भी स्मरण किया है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती अपने समय के जैन सिद्धांतों के सुप्रसिद्ध अद्वितीय वेत्ता थे। उनके नाम के आगे पाई जाने वाली "सिद्धांतचक्रवर्ती" यह उपाधि उक्त कथन की पुष्टि करती है। साथ ही जैसे महाकवि कालिदास को "दीपशिखा कालिदास", महाकवि माघ को "घण्टामाघ" और अमरचन्द्रसूरि को "वेणीकृपाणअमर" कह कर उनके तत्-तत् उल्लेखों वाले अति प्रसिद्ध श्लोकों के आधार पर सम्मानित किया जाता है ठीक उसी प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र को गोम्मटसार कर्मकाण्ड की —

> **जह चक्केण य चक्की छक्खंड साहियं अविग्घेण।**
> **तह मइचक्केण मया छक्कखंड साहियं सम्मं ॥[4]**

इस गाथा के आधार पर सम्मानित किया गया प्रतीत होता है।

द्रव्यसग्रह की ढूंढारी भाषा मे निबद्ध देश-भाषा-वचनिका के लेखक पंडितप्रवर जयचंद छाबड़ा ने द्रव्य-सग्रह को आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती की कृति स्वीकार किया है।[5] श्री छाबडा ने सवत् १८६३ मे श्रावण वदि चौदस के दिन द्रव्यसग्रह की देश-भाषा-वचनिका पूर्ण की थी।[6] इस भाषा-वचनिका मे श्री ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका की छाया कई स्थलो पर दिखाई देती है। दोनों टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। साथ ही द्रव्यसग्रह के विशेष व्याख्यान को जानने के लिए श्री छाबड़ा ने ब्रह्मदेव कृत टीका को देखने का निर्देश किया है।[7] किन्तु संस्कृत टीकाकार द्वारा विभिन्न स्थलो पर नेमिचन्द्र को सिद्धांति-देव इस उपाधि से अलकृत करने पर भी श्री छाबड़ा का इस ओर ध्यान नही गया। सभव है गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की अति प्रसिद्धि के कारण एव सिद्धान्तचक्रवर्ती और सिद्धांतिदेव इन दोनो विशेषणों मे एक देश समानता होने से गोम्मटसार आदि और द्रव्य-सग्रह इन दोनों ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं की ओर श्री छाबड़ा ने ध्यान न दिया हो। साथ ही दोनो ग्रन्थों के एक ही लेखक की प्राचीन धारणा उनके उक्त लेखन मे प्रमुख कारण प्रतीत होती है। यहा एक विशेष बात यह भी ज्ञातव्य है कि मूलाचार की संस्कृत टीका के लेखक वसुनन्दि को भी एक स्थान पर वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के नाम से अभिहित किया गया है।[8] लगता है यह भी ऊपर लिखित कारणों का ही प्रतिफल है।

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ १८६।

२. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ९६५-९७२।

३. गोमम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ७३४।

४. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।

५. (क) तहां श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति आचार्य इस ग्रन्थ का कर्त्ता कहु शिष्य को समझावने के मिसकरि···।

—द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ २

(ख) इहां श्री नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ति मगलकै अर्थि इष्टकूं नमस्कार कीया है।

द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ ८

(ग) आगे श्री नेमिचन्द्र आचार्य सिद्धांतचक्रवर्ति इस ग्रन्थि का कर्त्ता अपना लघुतारूप वचन कहै हैं।

—द्रव्यसग्रह, देश-भाषा-वचनिका, पृष्ठ ७३

६. संवत्सर विक्रम तणूं अठदश-शतत्रय साठ।
श्रावण वदि चौदस दिवस, पूरण भयोसुपाठ॥

—द्रव्यसग्रह, देशभाषा-वचनिका, पृष्ठ ७४

७. मूलाचार, वसुनन्दि वृत्ति, पृष्ठ १।

८. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ३९७।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थकारों के भेद का ज्ञान कराने वाले उपर्युक्त साक्ष्यों के अतिरिक्त निम्न तथ्य भी इसकी पुष्टि में हेतु कहे जा सकते है—

१. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने सगर्व लिखा है कि—जिस प्रकार चक्रवर्ती छः खण्डों को अपने चक्ररत्न से निर्विघ्नतापूर्वक वश में करता है ठीक उसी प्रकार मैंने मति रूपी चक्र के द्वारा षट्खण्ड रूप सिद्धांतशास्त्र को अच्छी तरह जाना है।[1] किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव द्वारा उपर्युक्त प्रकार की गर्वोक्ति के कही दर्शन नही होते हैं। अपितु इससे भिन्न उन्होंने अपनी लघुता प्रकट करते हुए अपने आपको "तणुसुत्तधरेण" और "मुणि" इस विशेषण से उल्लिखित किया है तथा अन्यों को "दोससंचयचुदा सुदपुण्णा" एव "मणिणाहा" विशेषणो से।[2]

२. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती द्वारा रचित ग्रन्थ विस्तार रूप से पाये जाते हैं। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह सूत्र रूप मे लिखित लघुकृति है।

३. नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती अपने ग्रन्थों में अपना और अपने गुरुजनों का नामोल्लेख करते है,[3] किन्तु नेमिचन्द्र मुनि लिखा है।[4]

४. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने अपने प्रमुख श्रावक गोम्मटराय (चामुण्डराय का उल्लेख किया है।

५. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने दोनों ग्रन्थकारो के भिन्न-भिन्न होने मे यह भी कारण प्रस्तुत किया है कि—द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता ने भावास्रव के भेदों में प्रमाद को भी गिनाया है और अविरत के पांच तथा कषाय के चार भेद ग्रहण किये है, परन्तु गोम्मटसार के कर्त्ता ने प्रमाद को भावास्रव के भेदों मे नहीं माना और अविरत के (दूसरे ही प्रकार के) बारह तथा कषाय के पांच भेद स्वीकार किये हैं।[5]

६. द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार श्री ब्रह्मदेव, जिनका समय अनुमानतः ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी है।[6] गोम्मटसार और द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता में भेद मानते हैं। इसीलिए उन्होंने विभिन्न स्थानों पर द्रव्यसंग्रहकार को "सिद्धांतिदेव" विशेषण से अभिहित किया है।[7] इसके अतिरिक्त ब्रह्मदेव ने अनेक स्थलों पर प्रवचनसार और पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों की गाथाओं की तरह प्राकृत पंचसंग्रह की चौदह गुणस्थानों का नामोल्लेख करने वाली उन दो गाथाओं को आगम-प्रसिद्ध-गाथा[8] कह कर उद्धृत किया है, जो कि किंचित् परिवर्तन के साथ गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी पाई जाती हैं।

द्रव्यसंग्रह :

द्रव्यसंग्रह की श्री ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका के उत्थानिका वाक्य से ज्ञात होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव ने मालव देश के धारा नामक नगर के अधिपति राजा भोजदेव के संबंधी श्रीपाल के आश्रम नामक नगर मे स्थित श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर के चैत्यालय मे भाण्डागार आदि अनेक नियोगों के अधिकारी सोम नामक नगरश्रेष्ठी के निमित्त पहले २६ गाथाओं वाले लघुद्रव्यसंग्रह की रचना की थी, पुनः तत्त्वों की विशेष जानकारी हेतु बृहद्द्रव्यसंग्रह की रचना की गई।[9]

द्रव्यसंग्रह आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतिदेव की एक अमर कृति है। इतनी लघु कृति में इतने अच्छे ढंग से

१. बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा ५८।
२. दव्यसंग्रहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा। सोधयतु तणुसुत्तधरेण णेमिचन्द मुणिणा भणियं ज॥
३. दृष्टव्य-पुरातन जैन वाक्य सूची प्रस्तावना पृष्ठ ९३।
४. बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा ५८।
५. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना, पृष्ठ ९३।
६. पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना पृष्ठ ९४।
७. द्रव्यसंग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ ३४, टिप्पणी १।
८. अथागमप्रसिद्धगाथाद्येन गुणस्थाननामानि कथयति। —बृहद्द्रव्यसंग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ २८।
९. अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिराजभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसंबंधिनः श्रीपालमहामण्डलेश्वरस्य संबंन्धियाश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थंकरचैत्यालये भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धांतदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन व्याख्य वृत्तिः प्रारभ्यते। —बृहद्द्रव्यसंग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ १-२

जीवादि षड्द्रव्यों का विवेचन उनके वैदुष्य का जीवन्त प्रतीक है। इसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने अपनी टीका मे विभिन्न स्थानों पर गाथाओ को सूत्र कह कर उल्लिखित किया है। साथ ही उनके प्रति अपनी घनीभूत श्रद्धा को प्रकट करते हुए अनेकों स्थलों पर उन्हे भगवान् कह कर संबोधित किया है।[1]

लघुद्रव्य संग्रह एवं बृहद्द्रव्य संग्रह नामकरण :

ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका से ज्ञात होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने सर्वप्रथम २६ गाथाओं वाले लघुद्रव्य संग्रह की रचना की थी। इसकी अंतिम गाथा इस प्रकार है—

सोमच्छलेन रइया पयत्थलक्खणकराउ गहाओ।
भव्वुवयारणिमित्त गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥[2]

इस गाथा से तीन विशेष बातो पर प्रकाश पड़ता है—

१. इस ग्रन्थ की रचना सोम नामक श्रेष्ठी के निमित्त की गई थी।

२. इस ग्रन्थ का नाम "पयत्थलक्खण" है।

३. इस ग्रन्थ के रचयिता श्री नेमिचन्द्र गणि है।

उपर्युक्त गाथा ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका की उत्थानिका का एक प्रमुख आधार है जिसे ब्रह्मदेव ने अन्य जानकारी के साथ विस्तारपूर्वक लिखा है। नामकरण के संबंध मे मात्र इतना कहना ही पर्याप्त है कि "दव्व-संगहमिणं" इत्यादि गाथा ही "द्रव्य संग्रह" "इस नाम के मूल में हेतु है। डा० दरबारीलाल कोठिया ने लिखा है कि द्रव्य संग्रह नाम की कल्पना ग्रन्थकार को अपनी पूर्व रचना के बाद इस द्रव्यसंग्रह को रचते समय उत्पन्न हुई है और इसके रचे जाने तथा उसे द्रव्यसग्रह नाम दे देने के उपरान्त पदार्थलक्षण (पयत्थलक्खण) कारिणी गाथाओ को भी ग्रन्थकार अथवा दूसरो के द्वारा लघुद्रव्यसग्रह नाम दिया गया है।"[3] डा० कोठिया के उक्त कथन के सदर्भ मे मात्र इतना ही कहना अपेक्षित प्रतीत होता है कि इतनी क्लिष्ट कल्पना की अपेक्षा यह मानना अधिक स्वाभाविक एवं समीचीन प्रतीत होता है कि लघु और बृहद् ये विशेषण भी ब्रह्मदेव द्वारा लगाये गये है। उनके पूर्व इन विशेषणो का समायोजन अन्यत्र दृष्टिगत नही होता है, अतः मूल मे तो २६ गाथाओ वाले ग्रन्थ का नाम "पयत्थलक्खण" है और ५८ गाथाओ वाले ग्रन्थ का नाम "द्रव्यसंग्रह"। यह बात अलग है कि श्री ब्रह्मदेव द्वारा लघु और बृहद् विशेषण लगाने के पश्चात् उक्त दोनो ग्रन्थों को लघुद्रव्यसंग्रह नाम से प्रसिद्धि मिली है।

लघुद्रव्य संग्रह :

उपलब्ध लघुसग्रह में कुल २५ गाथाएं पाई जाती हैं। जबकि ब्रह्मदेव की टीका के अनुसार २६ गाथायें होनी चाहिए। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने इसकी एक गाथा छूट जाने की संभावना प्रकट की है।[4]

इस लघुद्रव्यसंग्रह मे सर्वप्रथम विषय निर्देश के पश्चात् षड्द्रव्यों का उल्लेख करके काल को छोड़ कर शेष पांच द्रव्यों को बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय कहा है। पुन: जीवादि सप्त तत्त्वो मे पुण्य-पाप का समावेश कर नौ पदार्थों का उल्लेख है। इसी क्रम मे जीव का लक्षण, मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के छ: भेद, धर्म, अधर्म, आकाश और काल का स्वरूप बतलाते हुए जीवादि द्रव्यों के प्रदेशो का उल्लेख किया है। पुनः जीवादि सप्त पदार्थों का स्वरूप बतलाते हुए शुभाशुभ प्रकृतियों, सर्व द्रव्यों का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना, कर्मों के नाश करने हेतु काय को निश्चल और मन को स्थिर करके रागद्वेष को त्यागने का निर्देश तथा आत्मध्यानपूर्वक सुख प्राप्ति के उपाय का विवेचन किया है। अन्त मे मोह रूपी हाथी के लिए केशरी के समान साधुओं को नमस्कार करके अपने नामोल्लेख-पूर्वक कहा गया है कि सोमश्रेष्ठी के बहाने से भव्य-जीवो के उपकारार्थ इस "पयत्थ-लक्खण" नामक ग्रन्थ की रचना की है।

१. (क) "भगवान् सूत्रमिद प्रतिपादयति ॥
बृहद्द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका, पृष्ठ ३
(ख) "भगवतां श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेवानामिति।"
—बृहद्द्रव्य संग्रह, ब्रह्मदेव टीका ४६
इसके लिए उपर्युक्त टीका के पृष्ठ ८५, १३७, १८१ एवं १९२ भी द्रष्टव्य हैं।

२. लघुद्रव्य संग्रह, गाथा २५।

३. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २०-२१।

४. द्रव्य संग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ २१।

बृहद्द्रव्यसंग्रह :

बृहद्द्रव्यसंग्रह में कुल ५८ धारायें है, जो तीन अधिकारों मे विभक्त है। प्रथम अधिकार मे कुल २७ गाथायें हैं, इसे षड्द्रव्यपंचास्तिकाय प्रतिपादकनामा प्रथम अधिकार कहा है। द्वितीय अधिकार मे ११ गाथायें है, इसे सप्ततत्त्व नवपदार्थ प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार कहा है। तृतीय अधिकार में २० गाथाये है, इसे मोक्ष मार्ग प्रतिपादक नामा तृतीय अधिकार कहा है। इन तीनो अधिकारो को श्री ब्रह्मदेव ने अनेक अन्तराधिकारो मे विभक्त किया है। यद्यपि इन अन्तराधिकारो का विभाजन विषय-विभाजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, किन्तु यह विभाजन टीकाकार कृत ही है, आचार्य नेमिचन्द्र कृत नही।

इस बृहद्द्रव्य संग्रह मे आचार्य नेमिचन्द्र ने सर्वप्रथम जीव-अजीव द्रव्यो का निर्देश करने वाले भगवान् जिनेन्द्रदेव को नमस्कार किया है।

पुनः जीव का लक्षण करते हुए लिखा है कि १. जो जीता है, २. उपयोगमय है, ३. अमूर्तिक है, ४. कर्त्ता है, ५. शरीर परिमाण है, ६. भोक्ता है, ७ ससार मे विद्यमान है, ८. सिद्ध है, ९. स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है अर्थात् जिसमे उपर्युक्त नौ विशेषतायें पाई जाये वह जीव है। जीव के प्रथम विशेषण—"जो जीता है" को ध्यान मे रख कर व्यवहार और निश्चयनय की अपेक्षा से जीव के दो पृथक्-पृथक् लक्षण करते हुए कहा है कि —जो भूत, भविष्य एवं वर्तमानकाल मे इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणो को धारण करता है वह व्यवहारनय से जीव है तथा निश्चयनय से जिसके चेतना है वह जीव है।

जीव के लक्षण मे जिस उपयोग की चर्चा की गई है वह उपयोग दो प्रकार का है - दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है —चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल। इनमे से कुअवधि, अवधि, मनः पर्यय और केवल ये चार प्रत्यक्ष है तथा शेष चार अप्रत्यक्ष। उपर्युक्त आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग और चार प्रकार के दर्शनोपयोग को धारण करने वाला सामान्य रूप मे जीव का लक्षण व्यवहारनय से कहा है और शुद्धनय की अपेक्षा शुद्ध दर्शन और ज्ञान ही जीव का लक्षण है।

जीव के तृतीय विशेषण "अमूर्तिक" की चर्चा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि निश्चयनय से जीव मे पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नहीं है, अतः जीव अमूर्तिक है और व्यवहार नय की अपेक्षा कर्मों के बन्धन के कारण मूर्तिक है।

जीव के चतुर्थ विशेषण 'कर्त्ता" पर विचार करते हुए कहा है कि—व्यवहारनय से आत्मा, (जीव) पुद्गल कर्म आदि का कर्त्ता है, निश्चय नय से चेतन-कर्म का कर्त्ता और शुद्ध नय की अपेक्षा शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

जीव का पचम विशेषण है—स्वदेह परिमाण। तदनुसार व्यवहारनय की अपेक्षा से यह जीव समुद्घात रहित अवस्था मे सकोच तथा विस्तार रूप अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण मे रहता है और निश्चय नय से असंख्य प्रदेशो को धारण करने वाला है।

जीव का षष्ठ विशेषण है —भोक्ता। तदनुसार व्यवहारनय मे आत्मा (जीव) सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्म फलो का भोक्ता है और निश्चय नय की अपेक्षा अपने चेतन भाव का भोक्ता है।

जीव का सप्तम विशेषण है—ससार मे विद्यमानता। तदनुसार ग्रन्थकार ने संसारी जीवो का विवेचन करते हुए लिखा है कि —पृथ्वी, जल तेज, वायु और वनस्पति के भेद से एकेन्द्रिय के धारक स्थावर जीवो के अनेक भेद है तथा शख आदि ही द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय त्रस जीव है। पचेन्द्रिय के दो भेद हैं तथा शख आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय त्रस जीव है। पचेन्द्रिय के दो भेद है— सज्ञी और असंज्ञी। शेष द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय मन रहित असज्ञी है। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के है—इस प्रकार उपर्युक्त कुल सात प्रकार के जीवो के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार है। अतः ये जीव समास (सक्षेप मे) चोदह प्रकार के हैं। इनमे ससारी जीव अशुद्धनय की दृष्टि से चौदह मार्गणा तथा चोदह गुणस्थानो के भेद से चौदह-चौदह प्रकार के होते है। और अशुद्धनय से सभी ससारी जीव शुद्ध है।

जीव का अष्टम विशेषण है—सिद्ध, तदनुसार सिद्ध-परमेष्ठी ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त तथा अंतिम शरीर के परिमाण से किंचित् न्यून आकार वाले होते हैं।

जीव का नवम विशेषण है—उर्ध्वगमन स्वभाव: तदनुसार सिद्ध (जीव) उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्र भाग में स्थित हैं नित्य है और उत्पाद व्यय से युक्त है।

इस प्रकार जीव द्रव्य का विवेचन करने के पश्चात् प्रारम्भिक प्रतिज्ञानुसार जीव के प्रतिपक्षी अजीव द्रव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि अजीव द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का धारक पुद्गल द्रव्य मूर्तिमान् है और शेष चारों द्रव्य अमूर्तिक। पुद्गल द्रव्य-शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप इन पर्यायो वाला है। धर्मद्रव्य गमन में परिणत पुद्गल और जीवों को गमन मे सहकारी है। जैसे मछलियों के गमन मे जल सहकारी है। गमन न करते हुए पुद्गलो अथवा जीवों को धर्मद्रव्य गमन नही कराता है। अधर्मद्रव्य ठहरते हुए पुद्गल अथवा जीवों को ठहराने में सहकारी है। ठीक इसी प्रकार जैसे छाया यात्रियो को ठहरने मे सहकारी है। गमन करते हुए पुद्गल अथवा जीवों को अधर्मद्रव्य नही ठहराता है। आकाशद्रव्य—जीव आदि शेष द्रव्यों को अवकाश देने वाला है। यह दो प्रकार का है। जितने आकाश मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये शेष पाँच द्रव्य पाये जाते हैं वह लोकाकाश है और लोकाकाश के बाहर अलोकाकाश है। कालद्रव्य दो प्रकार का है—व्यवहार काल और निश्चयकाल। जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक, परिणामादि लक्षण वाला है वह व्यवहार काल है और जो वर्तना लक्षण वाला है वह निश्चय काल है। निश्चयकाल लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि की तरह परस्पर भिन्न होकर स्थित है। वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं।

उपर्युक्त जिन जीवादि द्रव्यों की चर्चा की गई है, उनमें काल द्रव्य को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। क्योंकि ये विद्यमान (अस्ति) हैं और शरीर के समान बहुप्रदेशी हैं। अत: इनका अस्तिकाय नाम सार्थक है। जीव, धर्म और अधर्म इन तीन द्रव्यों में असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश मे अनन्त प्रदेश है। पुद्गल तीनों (संख्यात, असंख्यात और अनन्त) प्रकार के प्रदेशों वाले है। काल का एक ही प्रदेश है, अत: काल को काय नहीं कहा गया है। एक प्रदेशी परमाणु भी अनेक व स्कन्ध रूप बहुप्रदेशी हो सकता है, अत: पुद्गल परमाणु को भी उपचार से काय कहा है। जितना आकाश अविभागी पुद्गलाणु से रोका जाता है वह सब परमाणु को स्थान देने में समर्थ प्रदेश है।

इस प्रकार छहद्रव्यों के प्रदेशों की चर्चा करने के पश्चात् बतलाया है कि पूर्वोक्त जीव और अजीव द्रव्य कथंचित् परिणामी है, अत: जीव और पुद्गल की संयोग परिणति से बने पर्याय रूप आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये सब नव पदार्थ हैं। आस्रव के दो भेद हैं—भावास्रव और द्रव्यास्रव। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म का आस्रव होता है वह भावास्रव है और जो ज्ञानावरणादि रूप कर्मों का आस्रव है वह द्रव्यास्रव है। भावास्रव के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय रूप पांच भेद हैं, जिनके क्रमश: पांच, पांच पन्द्रह, तीन और चार भेद है। द्रव्यास्रव अनेक भेदों वाला है। बन्ध दो प्रकार का है—भावबन्ध और द्रव्य बन्ध। जिस चेतनाभाव से कर्म बन्धता है वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्म-प्रदेशों का परस्पर मिलना द्रव्य बन्ध है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेदों से बन्ध चार प्रकार का है। योगों से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होते है तथा कषायों से स्थिति और अनुभाग बन्ध। संवर दो प्रकार का है—द्रव्य संवर और भाव-संवर। आत्मा का जो परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है वह भाव संवर है और द्रव्य-आस्रव का रुकना द्रव्य संवर है। पाँच व्रत पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह और अनेक भेदों वाला चारित्र ये सब भाव संवर के भेद हैं। निर्जरा के दो भेद हैं—भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा। आत्मा के जिस परिणाम से उदयकाल में अथवा तप द्वारा फल देकर कर्मों

का नाश होता है वह भाव निर्जरा है और कर्म-पुद्गलों का झड़ना द्रव्य निर्जरा है। मोक्ष दो प्रकार का है-- भाव मोक्ष और द्रव्य मोक्ष। सम्पूर्ण कर्मों के नाश का कारण तो आत्मा है वह भाव मोक्ष है और कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् होना द्रव्य मोक्ष है। शुभ और अशुभ भावों से युक्त जीव क्रमशः पुण्य और पाप रूप होता है। साता वेदनीय, शुभ-आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र (शुभ गोत्र) ये पुण्य प्रकृतियाँ है, शेष पाप प्रकृतियाँ है।

इस प्रकार नौ पदार्थों के विवेचन प्रसंग मे मोक्ष की चर्चा करने के पश्चात् उस मोक्ष प्राप्ति का कारण अथवा मार्ग क्या है? इस बात को ध्यान मे रख कर आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है कि —सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय व्यवहार नय से मोक्ष का कारण है तथा निश्चय नय से उपर्युक्त सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रमयी अपनी आत्मा ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि आत्मद्रव्य को छोड़ कर अन्य किसी द्रव्य में रत्नत्रय विद्यमान नही रहता है, इसलिए रत्नत्रयधारी आत्मा ही निश्चय नय से मोक्ष का कारण है। जीवादि सप्त तत्त्वों अथवा नौ पदार्थों पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है और उसके होने पर दुरभिनिवेशों (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय) से रहित सम्यग्ज्ञान होता है। आत्मा और उससे भिन्न पर पदार्थों का संशय, विमोह तथा विभ्रम रहित ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, वह साकार और अनेक भेदो वाला होता है। पदार्थों (भावों) मे भेद न करके, विकल्प न करके पदार्थों का जो सामान्य ग्रहण है वह दर्शन है। छद्मस्थ संसारी जीवो के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, दोनों उपयोग एक साथ नही होते। किन्तु केवली भगवान् के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग युगपद् होते है। अशुभ कार्य से निवृत्ति और शुभ कार्य में प्रवृत्ति व्यवहार चरित्र है, जो व्रत समिति और गुप्ति रूप है। संसार के कारणो का नाश करने के लिए ज्ञानी जीव की जो बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओ का निरोध है वह उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है।

मोक्ष-मार्ग का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य नेमिचन्द्र ने उस निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग के साधक रूप ध्यान अभ्यास की प्रेरणा देते हुए लिखा है कि ध्यान करने से मुनि नियम से निश्चय और व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग को पाता है, इसलिए चित्त को एकाग्र कर ध्यान का अभ्यास करे। वह ध्यान अनेक प्रकार का है, इसकी सिद्धि के लिए एकाग्र चित्त आवश्यक है और एकाग्रचित्त के लिए इष्ट और अनिष्ट रूप जो राग द्वेष एवं मोह रूप इन्द्रियो के विषय हैं उनका त्याग आवश्यक है।

अनेक प्रकार के ध्यानो के प्रसंग मे पदस्थ ध्यान की चर्चा करते हुए मुनि नेमिचन्द्र ने पंच परमेष्ठियो के वाचक पैंतीस सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक अक्षर रूप मंत्रो के जाप का निर्देश दिया है। उन पंच परमेष्ठियो मे चार घातिया कर्मों के नष्ट करने वाले तथा अनन्त दर्शन, सुख, ज्ञान और वीर्य के धारक, शुभ देह म स्थित, शुद्ध आत्म-स्वरूप अरहन्त भगवान् हैं। अष्ट कर्म रूप शरीर को नष्ट करने वाली, लोकाकाश और अलोकाकाश को ज्ञाता-दृष्टा, पुरुषाकार, लोक के अग्रभाग मे अवस्थित आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। दर्शनाचार और ज्ञानाचार को मुख्यता को लेकर वीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार इन पाचो आचारो मे जो स्वयं तत्पर है तथा अन्य को भी लगाते है वे मुनि आचार्य है। जो रत्नत्रय से युक्त प्रतिदिन धर्मोपदेश मे रत है तथा मुनियों मे प्रधान है वह आत्मा उपाध्याय है। दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्ष-मार्ग स्वरूप सदा शुद्ध चारित्र का जो पालन करते है वे साधु परमेष्ठी है।

इसी प्रसंग मे साधु के निश्चय और परम ध्यान प्राप्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि—एकाग्रता को प्राप्त कर जिस किसी वस्तु का चिन्तन करते हुए जब साधु निरीह वृत्ति (इच्छा रहित) होता है तब उसके निश्चय ध्यान होता है और जब मन, वचन काय की क्रिया से रहित होकर अपनी आत्मा मे ही तल्लीन होता है तब उसके परम ध्यान है। क्योंकि तप, श्रुत और व्रत का धारक आत्मा ध्यान रूपी रथ की धुरी को धारण करने मे समर्थ होता है, अतः ध्यान की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त तीनों की आराधना करें।

सबसे अन्त मे मुनि नेमिचन्द्र ने अपनी लघुता प्रकट करते हुए दोष विहीन एवं ज्ञान सपन्न मुनीश्वरो से द्रव्य-संग्रह ग्रंथ के सशोधन का निवेदन किया है।

बृहद्द्रव्य संग्रह के निरूपण की विशेषता :

१. आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ की द्वितीय गाथा में जीव का लक्षण उपस्थित करते हुए उसके नौ विशेषण दिये है। ये नौ विशेषण अपने आप मे महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इन नौ विशेषणो के माध्यम से आचार्य नेमिचन्द्र ने तत्कालीन विभिन्न दार्शनिको द्वारा मान्य सिद्धांतों का खण्डन किया है। सामान्यतया चार्वाक सिद्धांत में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही किया गया है। अतः प्रथम विशेषण—जीता है, यह चार्वाक सिद्धांत का खण्डन करता है। नैयायिक गुण और गुणी (ज्ञान और आत्मा) इन दोनों में एकान्त रूप से भेद मानते हैं, अतः जीव का द्वितीय विशेषण—"उपयोगमय" नैयायिकों के सिद्धांत का खण्डन करता है। इसी प्रकार भट्ट और चार्वाक के सिद्धांत का खण्डन करने के लिए "जीव के अमूर्तपने की स्थापना", सांख्यो के खण्डन हेतु "आत्मा के कर्मों के कर्त्ता रूप की स्थापना", नैयायिक, मीमासक और सांख्यों के खण्डन हेतु "आत्मा का भोक्तृत्व रूप", सदाशिव के खण्डन हेतु "आत्मा का ससारस्थ" कथन, भट्ट और चार्वाक के खण्डन हेतु "आत्मा का सिद्धत्व स्वरूप" और माण्डलीक मत का अनुसरण करने वालो के खण्डन हेतु आत्मा (जीव) के स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन का विवेचन किया गया है।

२. जिस नयवाद सिद्धात की नींव पर जैन-दार्शनिको का परमत खण्डन और स्वमत मण्डन रूप प्रासाद खड़ा हुआ है, वही नयवाद सिद्धात आज जैन-विद्वानो मे परस्पर विवाद उपस्थित कर रहा है। इसका मूल कारण है—नय सिद्धांत का सम्यग् अर्थ न समझना। विभिन्न आचार्यों ने नय के अनेक भेद किये हैं, जिनमे निश्चय और व्यवहार ये दो प्रमुख है। आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य-संग्रह मे नय-विवक्षा को प्रायः स्पष्ट रूप में ही प्रस्तुत किया है। अर्थात् उन्हे कौन सा कथन किस नय-विवक्षा से अभीष्ट है इसका उल्लेख किया है। उन्होंने निश्चय, व्यवहार शुद्ध और अशुद्ध इन चार नयों के माध्यम से जीव और अजीव इन द्रव्यों का विवेचन किया है। गाथा २६ में पुद्गल परमाणु के अस्तिकायत्व के प्रसंग में "उवयारा।"[1] शब्द का प्रयोग है। अतः जिस प्रकार प्रत्येक नय-विवक्षा से ज्ञेय पदार्थ मे भेद पैदा हो जाता है, उसी प्रकार उक्त गाथा मे नय का स्थानापन्न शब्द "उवयारा" अन्य किसी ज्ञेयान्तर की ओर इंगित करता है। वह ज्ञेयान्तर क्या है? यह एक विचारणीय विषय है साथ ही पूर्व में व्यवहार-नय का प्रयोग किया गया है, अतः "उवयारा" शब्द व्यवहार-नय का अपरनाम प्रतीत होता है। अन्यथा व्यवहार के अतिरिक्त "उपचार" की कल्पना का अन्य उद्देश्य क्या हो सकता है?

३. आचार्य नेमिचन्द्र ने जीव और अजीव इन दो द्रव्यों के विवेचन प्रसंग में निश्चय और व्यवहार-आदि नयों की शैली को अपनाकर विवेचन किया है, किन्तु शेष आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इन पांच तत्त्वों के विवेचन प्रसंग में उपर्युक्त अभिप्रेत निश्चय-व्यवहारपरक नय-शैली का समन्तात् परित्याग कर द्रव्य-भाव शैली का अनुसरण किया है। अर्थात् शेष पाँच द्रव्यो को द्रव्यास्रव-भावास्रव आदि के माध्यम से निर्दिष्ट किया है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य नेमिचन्द्र ने पूर्व अभिप्रेत निश्चय-व्यवहार परक नय-शैली का अन्त तक निर्वाह क्यों नहीं किया? क्या ऐसा करना संभव नहीं था? अथवा इसके मूल मे आचार्य नेमिचन्द्र का कोई अन्य अभिप्राय है? विद्वज्जन स्पष्ट करें!

४. नयों एवं द्रव्य-भाव पक्षों के प्रयोग से पूर्व लेखक ने उन्हें परिभाषित नही किया, जिससे पाठकों को इन शब्दों के अर्थों को समझने हेतु अन्य ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है। कहीं-कहीं नयादिकों की स्पष्ट घोषणा किये बिना भी विवेचन दृष्टिगत होता है।[2] ऐसी स्थिति में नय-विवक्षा भी पाठकों के हस्तगत हो जाती है। अतः उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को दृष्टि से ओझल किये बिना एक तर्कसंगत समाधान की खोज सतत बनी रहती है।

---

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा २६
एयपदेसो वि अणू णाणाखंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो "उवयारा" तेण य काओ भणंति सव्वण्हु॥

२. द्रष्टव्य—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा १७, १८, १९, २५।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

गोम्मटसार, कर्मकाण्ड
अनुवादक—पण्डित मनोहरलाल।
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास ईस्वी सन् १९७१।

गोम्मटसार, जीवकाण्ड
अनुवादक—पण्डित खूबचन्द्र जैन।
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास ईस्वी सन् १९७२।

जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, भाग ३
लेखक—क्षु० जिनेन्द्र वर्णी।
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-१ सन् १९७२।

तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा
लेखक—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य।
प्रकाशक—श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, (म० प्र०) नवम्बर, १९७४।

द्रव्यसंगह (देश भाषा वचनिका सहित)
सम्पादक—डा० दरबारी लाल कोठिया।
प्रकाशक—श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी-५ अगस्त, १९६६।

पुरातन जैनवाक्य सूची
सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर"।
प्रकाशक—वीर सेवा मदिर, सरसावा, जि० सहारनपुर ईस्वी सन् १९५०।

बृहद्द्रव्य सग्रह (ब्रह्मदेवकृत सस्कृत टीका सहित)
अनुवादक – अनुल्लिखित।
प्रकाशक—श्री शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान श्री शांतिवीरनगर, श्री महावीर जी प्रकाशन वर्ष अनुल्लिखित।

मूलाचार (वसुनन्दि टीका सहित), प्रथम भाग
सम्पादक—पण्डित पन्नालाल सोनी।
प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, गिरगाव बम्बई वीर निर्वाण संवत् २४४७

युगवीर निबन्धावली, द्वितीय खण्ड
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर"।
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट २१, दरियागज, दिल्ली दिसम्बर, १९६७।

लघुद्रव्य सग्रह

द्रष्टव्य-बृहद्द्रव्यसंग्रह, पृष्ठ २०९ म २१३%

—जैन विश्वभारती, लाडनूं

□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री ओमप्रकाश जैन, पता—२३, दरियागज दिल्ली-२
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक
राष्ट्रिकता—भारतीय
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है

□ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

द्रव्यों की पहिचान के लिए आगम मे पृथक्-पृथक् रूप से द्रव्यो के गुणधर्मों को गिनाया गया है, सभी द्रव्यो के अपने-अपने गुण-धर्म नियत है। कुछ साधारण है और कुछ विशेष। जहां साधारण गुण वस्तु के अस्तित्वादि को इंगित करते है वहां विशेष गुण एक द्रव्य की अन्य द्रव्यो से पृथकता बतलाते है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व ये जीव द्रव्य के साधारण गुण हैं और ज्ञान' दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्तत्व ये विशेष गुण है। कहा भी है—

"लक्षणानि कानि" अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं, प्रमेयत्वं, अगुरुलघुत्वं, प्रदेशत्वं, चेतनत्वं, अचेतनत्व, मूर्तत्वं अमूर्तत्व द्रव्याणां दश सामान्य गुणाः। प्रत्येकमष्टावष्टौ सर्वेषाम्" ज्ञानदर्शनसुखवीर्याणि स्पर्शरसगंधवर्णाः गतिहेतुत्वं, स्थितिहेतुत्व अवगाहनहेतुत्वं वर्तनाहेतुत्वं चेतनमचेतनत्वं मूर्तममूर्तत्वं द्रव्याणां षोडशविशेषगुणाः। प्रत्येक जीवपुद्गलयोर्षट्।"— (आलापपद्धति गुणाधिकार)

जीव मे निर्धारित गुणो को जीव कभी भी किसी भी अवस्था मे नही छोड़ता इतना अवश्य है कि कभी कोई गुण मुख्य कर लिया जाता है और दूसरे गौणकर लिये जाते है। यह अनेकान्त दृष्टि की अपनी विशेष शैली है द्रव्य मे गौण किए गए गुण-धर्मों का द्रव्य मे सर्वथा अभाव नहीं हो जाता—द्रव्य का स्वरूप अपने मे पूर्ण रहता है। यदि गौण रूप का सर्वथा अभाव माना जाय तो वस्तु-स्वरूप एकांत-मिथ्या हो जाय और ऐसे मे अनेकान्त दृष्टि का भी व्याघात हो जाय। अनेकान्त तभी कार्यकारी है जब वस्तु अनेक धर्मा हो—"अनन्तधर्मणस्तत्त्व", "सकलद्रव्य के गुण अनन्त पर्याय अनन्ता।"

अनेकान्त दृष्टि प्रमाण नयों पर आधारित है और एक देश भाग की ज्ञाता होने से नय दृष्टि वस्तु के पूर्ण रूप की ज्ञाता नही हो सकती—इसलिए नयाश्रित ज्ञान छद्मस्थ के अधीन होने से वस्तु के एक देश को जान सकता है। वह अंश को जाने-कहे, यहां तक तो ठीक है। पर, यदि वह वस्तु को पूर्ण वैसी और उतनी ही मान बैठे तो मिथ्या है। यतः वस्तु, ज्ञान के अनुसार नही होती अपितु वस्तु के अनुसार ज्ञान होता है। अतः जिसने अपनी शक्ति अनुसार जितना जाना वह उसकी शक्ति से (सम्यग्नयानुसार) उतने रूप मे ठीक है। पूर्ण रूप तो केवलज्ञानगम्य है, जैसा है वैसा है। नय ज्ञान उसे नही जान सकता है। फलतः—

आत्मा के स्वभाव रूप असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अवस्था में नकारा नही जा सकता। स्वभावतः आत्मा निश्चय-नय से तो असंख्यात प्रदेशी है ही, व्यवहार नय से भी जिसे शरीर प्रमाण कहा गया है वह भी असंख्यात प्रदेशी ही है। यतः दोनों नयों को द्रव्य के मूल स्वभाव का नाश इष्ट नहीं। असंख्य प्रदेशित्व आत्मा का सर्वकाल रहनेवाला गुण-धर्म है, जो नयोंसे कभी गौण और कभी मुख्य कहा या जाना जाता है। ऐसे मे आत्मा को अनेकान्त दृष्टि मे अप्रदेशी मान लेने की बात ही नही ठहरती। क्योंकि "अनेकांतवाद" (छद्मस्थों को) पदार्थ के सत्स्वरूप मे उसके अंश को जानने की कुंजी है, गौण किए गए अंशों को नष्ट करने या द्रव्य के स्वाभाविक पूर्ण रूप को जानने की कुंजी नही। यदि हम दृष्टि में वस्तु का सर्वथा एक अंश-रूप ही मान्य होगा तो "अनेकान्त सिद्धान्त" का व्याघात होगा।

यदि आत्मा में असंख्य प्रदेशित्व या अप्रदेशित्व की सिद्धि करनी हो तो हमें जीव की उक्त शक्ति को लक्ष्य कर 'प्रदेश' के मूल लक्षण को देखना पड़ेगा। उसके आधार पर ही यह संभव होगा। अतः यहां सिद्धांत ग्रन्थों से "प्रदेश" के लक्षण उद्धृत किए जा रहे हैं:

१. "स: (परमाणु) यावतिक्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश.।"

—परमाणु (पुद्गल का सर्वसूक्ष्म भाग—जिसका पुन: खंड न हो सके) जितने क्षेत्र (आकाश) मे रहता है, उस क्षेत्र को प्रदेश कहते है।

२. "प्रदेशोनामापेक्षिक: सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाह:।"

—त० भा० ५-७

—प्रदेश नाम आपेक्षिक है वह सर्वसूक्ष्म परमाणु का अवगाह (क्षेत्र) है।

३. तर्हि आकाशादीनां क्षेत्रादिविभाग: प्रदिश्यते।"

—त० वा० २, ३८,

—प्रदेशों के द्वारा आकाशादि (द्रव्यो के) क्षेत्र आदि का विभाग इंगित किया जाता है।

४. "जावदियं आयासं अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं।।"

—जितना आकाश (भाग) अविभागी पुद्गल अणु घेरता है, उस आकाश भाग को प्रदेश कहा जाता है।

५. "जेत्तियमेत्तं खेत्तं अणुणारुद्धं।"

—द्रव्यस्व० नयच० १४०

—अणु जितने (आकाश) क्षेत्र को व्याप्त करता है उतना क्षेत्र प्रदेश कहलाता है।

६. "परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेश:।"

—प्र० सा० जयचद वृ०

—परमाणु जितने क्षेत्र को व्याप्त करता है, उतना क्षेत्र प्रदेश कहा जाता है।

७. "शुद्धपुद्गलपरमाणुगृहीतनभस्थलमेव प्रदेश:।"

—शुद्ध पुद्गल परमाणु से व्याप्त नभस्थल ही प्रदेश कहलाता है।

८. "निर्विभाग आकाशावयव: प्रदेश:।"

—निर्विभाग आकाशावयव प्रदेश होता है।

९. "प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा:।।३।। प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशा:। कथं प्रदिश्यन्ते? परमाण्ववस्थान परिच्छेदात्।।४।। वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणु स: यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते। ते धर्माधर्मैकजीवा ध्रुयासंख्येयप्रदेशा।"—

—तत्वा० राव० ५/८/३

१०. "प्रदेशस्य भाव: प्रदेशत्वं अविभागिपुद्गल-परमाणुनावष्टब्धम्।"

—आलाप पद्धति

आगमों के उक्त प्रकाश में स्पष्ट है कि "प्रदेश" और अप्रदेश शब्द आगमिक और पारिभाषिक है और आकाशभाग (क्षेत्र) परिमाण में प्रयुक्त होते है। आगम के अनुसार आकाश के जितने भाग को जो द्रव्य जितना जितना व्याप्त करता है वह द्रव्य आकाश के परिमाण के अनुसार उतने ही प्रदेशों वाला कहा जाता है।

शंका—यदि "शब्दानामनेकार्थ:" के अनुसार "प्रदेश" का "खंड" और "अप्रदेश" का "अखण्ड" अर्थ मानें तो क्या हानि है?

समाधान—शब्दों के अनेक अर्थ होते हुए भी उनका प्रासंगिक अर्थ ही ग्रहण करने का विधान है। जैसे सेन्धव का अर्थ घोड़ा है और नमक भी। पर, भोजन प्रसंग मे इस शब्द से "नमक" और यात्रा प्रसंग में "घोड़ा" ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार द्रव्य के गुण-स्वभाव मे "प्रदेश" "अप्रदेश" को आगमिक परिभाषा के भाव मे लिया जायगा। अन्यथा शुद्धोपयोगी आत्मा के संबंध मे—"अप्रदेश" का अर्थ "एक प्रदेश" करने पर शुद्धात्मासिद्ध भगवान मे एक प्रदेशी होने की आपत्ति होगी जब कि उन्हें "अपदेश" न मान कर सपदेश—असख्यात प्रदेशी वाला स्वाभाविक रूप से माना गया है। उनकी स्थिति "किंचिदूणाचरमदेहदोसिद्धा: के रूप मे है। प्रदेश का परिमाण आकाशक्षेत्रावगाह से माना गया है। आत्मा को अखण्ड मानने में कोई बाधा नही—आत्मा असंख्यात प्रदेशी और अखण्ड है ही।

आगम में एक से अधिक प्रदेश वाले द्रव्य को "अस्तिकाय और मात्र एक प्रदेशी द्रव्य को "अस्तिकाय' से बाहर रखा गया है। कालाणु और अविभाज्य पुद्गल परमाणु के सिवाय सभी द्रव्यों (आत्मा को भी) को अस्तिकाय कहा है। कही आत्मा को अस्तिकाय से बाहर (एक प्रदेशी) द्रव्यों में गिनाया हो ऐसा पढ़ने और देखने मे नही आया।

आत्मा को अप्रदेशी कहने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं कि "प्रदेशित्व" "अप्रदेशित्व" का आधार आकाश की

अवगाहना का क्षेत्र माना गया है—परमपारिणामिक भाव नहीं। यदि इनका मापदण्ड भावों से किया गया होता तो आचार्य अर्हंतों और सिद्धों को भी "अप्रदेशी" घोषित करते, जबकि उन्होने ऐसा घोषित नही किया।

उक्त विषय में अन्य आचार्यों के वचन ऊपर प्रस्तुत किए गए। आचार्य कुन्दकुन्द ने सबन्धित विषय को जिस रूप में प्रस्तुत किया है उसे भी देखना आवश्यक है। क्योंकि "समयसार" उन्ही की रचना है। "समयसार" के सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार मे कहा गया है :—

"अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
णवि सो सक्कई तत्तो हीणो अहिओ य काउं जं॥"

—समयसार ३४२

"जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्यो, असंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च।"

—टीका, अमृतचन्द्राचार्य (आत्मख्याति)

"आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चाऽसख्यातप्रदेशो देशित: समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्ध चैतन्यान्वयलक्षण द्रव्यत्वं तथैवाऽसंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति।"

—टीका जयसेनाचार्य, (तात्पर्यवृत्ति)

उक्त सन्दर्भ को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वय स्पष्ट है। गाथा मे "नित्य", आत्मख्याति म "द्रव्यरूपेण", और तात्पर्यवृत्ति मे "द्रव्यार्थिकनयेन", ये तीनों विशेष-निर्देश द्रव्यार्थिक (निश्चय) नय के कथन को इगित करते है। एतावत: इस प्रसग म आत्मा के असख्यात प्रदेशित्व का कथन निश्चय नय की दृष्टि से ही किया गया है, व्यवहार नय की दृष्टि से नही।

आगम मे व्यवहार और निश्चय इन दोनो नयों के यथेच्छ रीति से प्रयोग करने की हमे छूट नही दी गई। इनके प्रयोग की अपनी मर्यादा है। निश्चय नय के कथन में वस्तु की स्वभाव शक्ति एव गुण धर्म की मुख्यता रहती है और व्यवहार नय मे उपचार की। इनके अनुसार आत्मा का बहुप्रदेशित्व निश्चय नय का कथन है, व्यवहार नय का नही।

इसका फलितार्थ यह भी निकलता है कि जो कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा के स्वभावरूप-परम पारिणामिक भाव-रूप-सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार मे आत्मा को नित्य एव असंख्यप्रदेशी घोषित करते हैं, वे ही आचार्य आत्मा को कथमपि किसी भी प्रसग मे अप्रदेशी नही कह सकते।

"जीवापोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेसत्ति कालस्स॥

—कुन्दकुन्द, प्रवचनसार ४३

"अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाश-तुल्याऽसंख्येय—प्रदेशापरित्यागात् जीवस्य।"

—वही, अमृतचन्द्राचार्य-तत्वदीपिका

"तस्य तावत संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीपवत् प्रदेशाना हानिवृद्धयोरभावात् व्यवहारे देह-मात्रोऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमिताऽसंख्येय प्रदेशत्वम्।"

—वही, जयसेनाचार्य, तात्पर्यवृत्ति

जीव के असंख्यात प्रदेशित्व को किसी भी अपेक्षा से उपचार या व्यवहार का कथन नहीं माना जा सकता। प्रदेश व्यवस्था द्रव्यों के स्वाधीन है और वह उनका स्वभाव ही है और स्वभाव मे उपचार नही होता। तत्त्वार्थ राजवार्तिक (५/८/१३) का कथन है कि—

हेत्वपेक्षाभावात् ॥३॥ पुद्गलेषु प्रसिद्ध हेतु-मवेक्ष्य धर्मादिषु प्रदेशोपचार: न क्रियते तेषामपि स्वाधीन प्रदेशत्वात्। तस्मादुपचार कल्पना न युक्ता।"

स्वर्गीय, न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार जी का यह कथन विशेष दृष्टव्य है :—

"शुद्ध नय दृष्टि से अखण्ड उपयोग स्वभाव की विवक्षा से आत्मा मे प्रदेश भेद न होने पर भी ससारी जीव अनादि कर्म-बन्धनबद्ध होने से सावयव ही है।"

—त० वा० (ज्ञानपीठ) पृ० ६६६

एक बात और। अपेक्षाश्रित होने से नय-दृष्टि मे वस्तु का पूर्ण त्रैकालिकशुद्धस्वभाव गम्य नही होता। पूर्ण ग्रहण तो सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञान द्वारा ही होता है। इसीलिए आचार्य पदार्थज्ञान को नय-दृष्टि से अतीत घोषित करते है। वे कहते है :—

"णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।"
"सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।"

—समयसार, १४२, १४४

मूर्त द्रव्य मे तो परमाणु की प्रदेश संज्ञा मानी जा सकती है, पर प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की वहाँ भी

उपेक्षा नही की जा सकती। पुद्गल द्रव्य के सिवाय सभी अमूर्त द्रव्यों मे प्रदेश का भाव आकाश क्षेत्र से ही होगा उपयोग के अनुसार नही।

मूर्ते पुद्गलद्रव्ये संख्यातासंख्यातानंताणूनां पिण्डा स्कंधास्त एव त्रिविधा प्रदेशा भण्यंते न च क्षेत्रप्रदेशा:।— (शेषाणां क्षेत्राऽपेक्षेति फलितम्)

—वृ० द्रव्य स० टीका गाथा २५

सिद्धत्वपर्याय में उस पर्याय के उपादान कारणभूत शुद्धात्मद्रव्य के क्षेत्र का परिमाण—चरमदेह से किंचित् न्यून है जो कि तत्पर्याय (अंतिम शरीर) परिमाण ही है, एक प्रदेश परिमाण नही।

'किंचिदूणचरमशरीरप्रमाणस्य सिद्धत्वपर्यायस्योपादानकारणभूतशुद्धात्मद्रव्य तत्पर्यायप्रमाणमेव।'

—वही

द्रव्यसग्रह में शका उठाई गई है कि सिद्ध-आत्मा को स्वदेहपरिमाण क्यो कहा? वहाँ स्पष्ट किया हैकि—

'स्वदेहप्रमितिस्थापनं नैयायिकमीमांसकसांख्यत्रयं प्रति।' —वही गाथा २ टीका

स्मरण रहे कि कोई आत्मा को अणुमात्र (अप्रदेशी) कहते है और कोई व्यापक। उनकी मान्यता समीचीन नहीं, यहाँ यह स्पष्ट किया है।

पंचास्तिकाय मे आत्मा के प्रदेशो के संबध मे लिखा है—

'निश्चयेन लोकमात्रोऽपि। विशिष्टावगाहपरिणामशक्तियुक्तत्वात् नामकर्म निर्वृत्तमणुमहत्शरीरमधितिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रो।' —(त० दी०)

'निश्चयेन लोकाकाशप्रतिमाऽसंख्येयप्रदेशप्रमितोऽपि व्यवहारेण शरीरनामकर्मोदय जनिताणुमहच्छरीर प्रमाणत्वात् स्वदेहमात्रो भवति।' —(तात्पर्य वृ०) २७,

यदि उपयोगावस्था मे आत्मा अप्रदेशी माना जाता है तो आत्मा के अखंड होने से यह भी मानना पड़ेगा कि आत्म प्रदेश बृहत् शरीर मे सिकुड़ कर प्रदेशमात्र-अवगाह में हो जाते हैं और शेष पूरा शरीर भाग आत्महीन (शून्य) रहता है—जैसा कि पढ़ने सुनने में नही आया।

छद्मस्थ का ज्ञान प्रमाण और नयगर्भित है और केवली भगवान का ज्ञान प्रमाणरूप है। नय का भाव अंशग्राही और प्रमाण का भाव सर्वग्राही है। दोनो मे ही अनेकान्त की प्रवृत्ति है, अनेकान्त की अवहेलना नहीं की गई —'अनेकान्तऽप्यनेकान्त'। प्रसंग मे भी इसी आधार पर आत्मा के असंख्यातप्रदेशत्व का विधान किया गया है। तथाहि—

अनेकान्त की दो कोटियां है। एक ऐसी कोटि जिसमें अपेक्षादृष्टि से अंशो को क्रमशः जाना जाय और दूसरी कोटि वह जिसमे सकल को युगपत् प्रत्यक्ष जाना जाय। प्रथम कोटि मे रूपी पदार्थों को जानने वाले चार ज्ञानधारी तक के सभी छद्मस्थ आते है। इन सभी के ज्ञान परसहायापेक्षी आंशिक और क्रमिक होते है। प्रत्यक्ष होने पर भी वे 'देश-प्रत्यक्ष' ही कहलाते है। दूसरे शब्दों मे इन सभी को एक समय मे एक प्रदेशग्राही भी माना जा सकता है यानी ये एक प्रदेश (ऊर्ध्वप्रचय) के ज्ञाता होते है। दूसरी कोटि मे केवली भगवान को लिया जायगा यत: ये एक और एकाधिक अनंत प्रदेश (तिर्यकप्रचय—बहुप्रदेशी द्रव्य) के युगपत् ज्ञाता है। आचार्यों ने इसी को ध्यान मे लेकर ऊर्ध्व प्रचय को **'क्रमाऽनेकान्त'** और तिर्यक् प्रचय को **'अक्रमाऽनेकान्त'** नाम दिए है—

'तिर्यक्प्रचय: तिर्यक् सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति **'अक्रमाऽनेकान्त'** इति च भण्यते।···ऊर्ध्व प्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति 'क्रमाऽनेकान्त' इति च भण्यते।'

—प्रव० सार (त० वृ०) १४१।२००।६

'वस्तु का गुण समूह अक्रमाऽनेकान्त है क्योंकि गुणो की वस्तु म युगपदवृत्ति है और पर्यायो का समूह क्रमाऽनेकान्त है, क्योंकि पर्यायों की वस्तु मे क्रम से वृत्ति है'—

—जैनेन्द्र सि० कोष पृ० १०८

स्पष्ट है कि क्रमाऽनेकान्त मे वस्तु का स्वाभाविक पूर्णरूप प्रकट नही होता, स्वाभाविक पूर्णरूप तो अक्रमाऽनेकान्त में ही प्रकट होता है और बहुप्रदेशित्व का युगपद्ग्राही ज्ञान केवलज्ञान ही है। अतः केवलज्ञानगम्य—प्रदेशसम्बन्धी वही रूप प्रमाण है, जो सिद्ध भगवान का रूप है—

'किंचिदूना चरम देहदो सिद्धा:।' अर्थात्—
—असंख्यात प्रदेशी।

आगम में द्रव्य का मूल स्वाभाविक लक्षण उसके गुणों और पर्यायों को बतलाया गया है और ये दोनों ही सदा कालद्रव्य मे विद्यमान है। द्रव्य के गुण द्रव्यार्थिक नय और पर्यायें पर्यायार्थिक नय के विषय है। जब हम कहते हैं कि 'आत्मा अखंड है' तो यह कथन द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और जब कहते है कि 'आत्मा असंख्यात-प्रदेशी है' तो यह कथन पर्यायार्थिकनय का विषय होता है दोनो ही नय निश्चय मे आते है। जिसे हम व्यवहार नय कहते है वह द्रव्य को पर-सयोग अवस्थारूप मे ग्रहण करता है। चूंकि आत्मा का असख्यप्रदेशत्व स्वाभाविक है अत: वह इस दृष्टि से व्यवहार का विषय नही—निश्चय का ही विषय है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनो मे एक की मुख्यता मे दूसरा गौण हो जाता है—द्रव्यस्वभाव मे न्यूनाधिकता नही होती। अत: स्वभावत: किसी भी अवस्था मे आत्मा अप्रदेशी नही है। वह त्रिकाल असख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

आत्मा को सर्वथा असख्यातप्रदेशी मानने पर अर्थ-क्रियाकारित्व का अभाव भी नही होगा। यत: अर्थक्रिया-कारित्व का अभाव वहा होता है जहा द्रव्य के अन्य धर्मों की सर्वथा उपेक्षा कर उसे एक धर्मरूप मे ही स्वीकार किया जाता है। यहा तो हमे आत्मा के अन्य सभी धर्म स्वीकृत है केवल प्रदेशत्वधर्म के सम्बन्ध मे ही उसके निर्धारण का प्रश्न है- यहा अन्य धर्मों के रहने से स्व-भावशून्यता भी नही होगी और ना ही द्रव्यरूपता का अभाव। यदि एक धर्म के ही आसरे से (अन्य धर्मों के रहते हुए) अर्थक्रियाकारित्व की हानि होती हो तब तो एकप्रदेशी होने से कालाणु, पुद्गलाणु मे और असंख्यात-प्रदेशी होने से सिद्धों मे भी अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जायगा—पर ऐसा होता नही।

राजवार्तिक में आत्मा के अप्रदेशपने का भी कथन है पर वह आत्मा के असख्यातप्रदेशत्व के निषेध में न होकर शुद्धदृष्टि को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है अर्थात् आत्मा यद्यपि परमार्थ से असंख्यातप्रदेशी अवश्य है तथापि शुद्धदृष्टि की विवक्षा मे बहुप्रदेशीपने को गौण कर अखण्डरूप से ग्रहण करने के लिए अभिप्रायवश उसे अप्रदेशरूप कहा गया है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा को लक्ष्य कर नहीं।

प्रकृत में उपसंहाररूप इतना विशेष जानना चाहिए कि जहां तक मोक्षमार्ग का प्रसंग है, उसमें निश्चय का अर्थ करते समय, उसमें यथार्थता होने पर भी अभेद और अनुपचार की मुख्यता रखी गई है। इस दृष्टि को साध-कर जब अप्रदेशी का अर्थ किया जाता है, तब प्रदेश का अर्थ भेद या भाग करने पर अप्रदेश का अर्थ अखण्ड हो जाता है। इसलिए परमार्थ से जीव के—स्व-स्वरूपशक्ति से असख्यातप्रदेशी होने पर भी दृष्टि की अपेक्षा उसे अखण्डरूप से अनुभव करना आगम सम्मत है। प्रदेश की शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से आत्मा असंख्यातप्रदेशी और अखण्ड है ही और एक प्रदेशावगाही होकर भी उसके असख्यप्रदेशी हो सकने मे कोई बाधा नहीं। इसका निष्कर्ष है कि आत्मा अप्रदेशी तथा अखण्ड नहीं, अपितु असख्यातप्रदेशी तथा अखण्ड है।

वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज,
नई दिल्ली-२

□□□

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक मण्डल लेखक के सभी विचारों से सहमत हो। — सम्पादक

आनन्द कहां है ?

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

आत्मा की तीन अवस्थाए होती है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। यह अभी बहिरात्मा है यानी इसकी दृष्टि, इसका सर्वस्व बाहर मे है, पर मे है, धन-दौलत में है, परिवार मे है, शरीर म है, अपने आप म यानी चैतन्य में नही है। इसलिए यह मानता है कि मैं मनुष्य हूं, मैं धनिक हूं, मैं गरीब हू, मैं रोगी हू, सुखी हूं, दुखी हू परन्तु कभी यह नही देखता कि मैं सच्चिदानन्द हू। शरीरादि धन-वैभव तो साथ मे लाया नही, साथ मे जायगा नही, जो जन्म से पहले था मरने के बाद रहेगा नहीं, यह तो संयोग वस्तु है। कुछ समय मात्र के लिए संयोग हुआ है। किसी होटल मे ठहरते है उस कमरे को अपना कमरा भी कहते है, उस कमरे मे अनेक प्रकार का सामान भी होता है, उसको काम मे भी लेते है परन्तु यह जानते है कि इसमे हमारा कुछ नही है, कुछ समय के लिए इसमे ठहरे है। उन सब म स्वामित्वपना, अपनापन नही इसलिए उसमे अहबुद्धि भी नही होती और आसक्ति भी नही होती और उसके बिगड़ने-सुधरने स दु:ख-सुख भी नहीं होता। उसी प्रकार यह चैतन्य आत्मा १००-५० वर्षों के लिए इस शरीर रूपी होटल मे आकर ठहरा है। इसमे इसका अपना अपने चैतन्य के अलावा कुछ नही है यहां तक कि शरीर भी यही रह जाता है, इसका अपना होता तो इसके साथ जाना चाहिए था। बात तो ऐसी ही है परन्तु यह भ्रम से इसे अपना मानता है, इसे अपना रूप मानता है और जब इसे अपना मानता है तो इसमे सम्बन्धित परिवारादि है वे भी उसके अपने हो जाते है और जो अन्य संयोग है उन्हे भी अपना मान लेता है, तब उसमे अहम् बुद्धि पैदा होने से यह भाव बनता है—

'मैं सुखी-दुखी, मैं रक-राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव, मेरे सुत तिय, मैं सबलदीन, बे रूप सुभग मूरख-प्रवीन'। इन सयोगो के अनुकूल होने पर अहकार करता है और विपरीत होने पर रोता है, यही इनका बहिरात्म-पना है। इसी से यह दुखी है वह कैसे दूर हो यह प्रश्न है ?

अगर यह अपने को पहचान ले कि मैं एक अकेला चैतन्य हूं बाकी सब कर्म के सम्बन्ध से होने वाले सयोग है, मैं इन रूप नही, मैं अपने निज चैतन्य रूप हूं अथवा मैं तो 'अहमोस्मि' हूं यह जाने। अपने को इनसे अलग देखे तो दुखी-सुखी होने का कोई प्रयोजन ही नही रहे। जैसे किसी नाटक मे कोई आदमी पार्ट कर रहा है, उसको धनिक का पार्ट दिया तो वह कर देता है, भिखारी का दिया है, तो वह कर देता है, भिखारी का पार्ट करते हुए अपने को भिखारी मानकर दुखी नही होता है और राजा का पार्ट कर राजा मानकर अहकार नही करता। क्योकि वह जानता है कि यह तो मात्र कुछ देर का पार्ट मात्र है। मैं इस रूप नही, मै तो अपने रूप ही हू। इसी प्रकार यह आत्मा कर्मजनित अनेक प्रकार के पार्ट कर रहा है। कभी धनिक का, कभी भिखारी का, कभी स्त्री का, कभी पुरुष का पुरुष का, कभी पशु का। अगर यह अपने आपको यानी पार्ट करने वाले को जान पहचाने, जो सद्चिदानन्द चैतन्य है तो उसे कर्म-जनित अवस्था मे दुख-सुख नही हो, यही अन्तरात्मपना है यानी अपने को जान लिया, अब उसके लिए वह पार्ट हो गया, अब तक उसे असली मान रखा था, जहा अपने को पहचाना उसका असलीपना खतम हो गया। अब वह पार्ट उसे सुखी-दुखी नही बना सकता। नाटक का पार्ट दो-चार घण्ट का होता है। यह १००-५० वर्ष का नही है परन्तु पार्ट तो पार्ट ही है चाहे वह कितने समय का ही क्यो न हो।

धन वैभव का आना-जाना तो पुण्य-पाप के अधीन है परन्तु यह तत्व-ज्ञान प्राप्त करना अपने अधीन है। इसलिए हे चैतन्य तुझे आनन्द को प्राप्त करना है तो अपने को जानने का पुरुषार्थ करना चाहिए। जैसे तूने अपने को मान रखा है। वैसा तू नही, तू तो उन अवस्थाओ को जानने वाला चैतन्य है। यह जानकर जो अपना नही उसमे हटे और जो अपना है उसमे लीन हो जाए तो कर्म का सम्बन्ध दूर हो जाए। क्योकि जब कर्म-जनित अवस्थाओं को अपना जानकर दुखी-सुखी होता था तब नया कर्म का बन्ध होता था। जब अपने को कर्मकृत अवस्था से अलग जान लिया तो कर्म के कार्य के हर्ष-

[शेष पृ० २३ पर]

जैन संस्कृति में दसवीं-बारहवीं सदी की नारी

□ डा० श्रीमती रमा जैन

जैन संस्कृति में भारतीय नारी का गौरवपूर्ण स्थान सदा से सुरक्षित रहा है आदि पुराण मे आचार्य जिनसेन ने नारी के जिस रूप का चित्रण किया है, उससे प्रतीत होता है कि आज से लगभग ११०० वर्ष पूर्व नारी की स्थिति आज से कहीं अच्छी और सम्मानपूर्ण थी। उस समय पुत्री, माता-पिता के लिये अभिशाप नही मानी जाती थी। वह कुटुम्ब के लिए मंगल रूप और आनन्द प्रदान करने वाली समझी जाती थी।[१]

कन्याओं का लालन-पालन और उनकी शिक्षा-दीक्षा पुत्री के समान होती थी। भगवान ऋषभदेव ने अपनी ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो पुत्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रेरित करते हुए कहा था कि गुणवती, विदुषी नारी संसार में विद्वानों के बीच सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करती है।[२] अपने अनवरत अध्ययन के द्वारा ब्राह्मी और सुन्दरी ने पूर्णतः पण्डित्य भी प्राप्त किया था।

उस समय समाज मे कन्या का विवाहित हो जाना आवश्यक नही था। ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध है कि कन्याएँ आजीवन अविवाहित रह कर समाज की सेवा करती हुई अपना आत्मकल्याण करती थी। पिता पुत्री से उसके विवाह के अवसर पर तो सम्मति लेता ही था, आजीविका अर्जन के साधनो पर भी पुत्री से सम्मति लेता ही था। बज्रदन्त चक्रवर्ती ने अपनी कन्या श्री सर्वमती को बुलाकर उसे नाना प्रकार से समझाते हुए कलाओ के सम्बन्ध मे चर्चा की है।[३] आजीविका उपार्जन के लिये उन्हें मूर्तिकला, चित्रकला के साथ ऐसी कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे अपने भरण-पोषण कर सकती थी। पैतृक सम्पत्ति में तो उनका अधिकार रहता ही था। वे अपनी इच्छा अनुसार दान धर्म मे पिता की सम्पत्ति का उपयोग कर सकती थीं। कुमारी सुलोचना ने पिता की अनुमति से बहुत-सी रत्नमयी प्रतिमाओ का निर्माण कराया था, और उन प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा, पूजन मे भी पर्याप्त धनराशि खर्च की थी।

जैन संस्कृति मे स्वावलम्बी नारी जीवन की कल्पना पुराणो और शिलालेखो मे सर्वत्र मिलती है। जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व, अन्य २३ तीर्थंकरों ने भी अपने अपने संघ में नारी को दीक्षित कर आत्म-साधना का पूर्ण अधिकार दिया था। यही कारण है कि जैन नारी धर्म, कर्म एव व्रतानुष्ठानादि मे कभी पीछे नही रहीं।

जैन शासन के चतुर्विध संघ के साधु के समान साध्वी को एव श्रावक के समान श्राविका को भी सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास एव आत्मकल्याण हेतु पुरुष के समान ही कठिन तपस्या, व्रत, उपवास केशलुंच आदि धार्मिक आचरण कर सकती है। स्वाध्याय से अपना बौद्धिक विकास कर आत्मानुष्ठान द्वारा मन और इन्द्रियो को वश मे कर, आगत उपसर्गों परीषहों को सहन कर धर्म साधिका बन सकती है। चन्दना सती ने अपनी योग्यता और प्रखर बुद्धिमत्ता से ही आर्यिका के कठोर व्रतों का आचरण कर महावीर स्वामी के तीर्थ मे छत्तीस हजार आर्यिकाओ मे गणिनी का पद प्राप्त किया था।[४]

ईसा की दसवीं शताब्दी मे कवि चक्रवर्ती रत्न ने मल्लपय की पुत्री एवं सेनापति नागदेव की पत्नी अतिमब्बे की जिन भक्ति तथा उनके अलौकिक धर्मानुराग की भूरि२

१. पितरौतां प्रपश्यन्त नितरां प्रीतिमापतुः,
कलामिव सुधासूतेः जनतानन्द कारिणीम्।
(आदिपुराण, पर्व ६, श्लोक ८३)

२. विद्यावान पुरुषो लोके सम्मति याति कोविदैः।

३. आदि पुराण, पर्व ७, श्लोक।

४. आदि पुराण पर्व ४३, श्लोक।

प्रशंसा की है।[५] महाकवि पोन्नकृत शान्तिपुराण की दुर्दशा देख अतिमब्बे ने 'शान्तिपुराण' की एक हजार प्रतियाँ तैयार करा कर कर्णाटक मे सर्वत्र वितरित की थी।[६]

अतिमब्बे केवल जैन धर्म की श्रद्धालु श्राविका ही नहीं थीं, वे उच्चकोटि की दान शीला भी थी। उन्होने कोपल में (हैदराबाद) चांदी सोने की हजारो जिन प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराई थी और लाखों रुपयों का दान किया था।[७] फलस्वरूप इन्हे दानचिन्तामणि की उपाधि प्राप्त हुई थी। दान चिन्तामणि की महिमा शिलालेखों में विशेष रूप से अंकित है।[८]

ईसा की दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवी शताब्दी मे न केवल राजघराने की वीर बालिकाओ ने त्याग, दान और धर्म निष्ठा का आदर्श उपस्थित किया था, अपितु साधारण महिलाओं ने भी अपने त्याग और सेवाओ के अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किये है।

जाक्किमब्बे शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थी। इन्होंने कुशलता से राज्य शासन का परिचालन करते हुए विशाल जिन प्रतिमा की स्थापना कराई थी। ये राज्य कार्य में निपुण, जिनेन्द्र शासन के प्रति आज्ञाकारिणी और लावण्यवती थी।[९]

इसी प्रकार मौनी गुरु की शिष्या नागवती, पेरुमाल गुरु की शिष्या प्रभावती, अध्यापिका दामिमती, आर्यिका साम्दर्या, शशिमति आदि नारियो के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने व्रत शीलादि का सम्यक आचरण कर जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार मे आमरण तत्पर रह कर जीवन को सफल बनाया और जैन नारी के समक्ष महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया।[१०]

विष्णुवर्द्धन की महारानी शान्तल देवी ने सन् ११२३ में श्रवणबेलगोल में जिनेन्द्र भगवान की विशालकाय प्रतिमा की स्थापना कराई थी।[११] यह प्रतिमा 'शान्ति जिनेन्द्र' के नाम मे प्रसिद्ध है शान्तला देवी संगीतज्ञा, पतिव्रता, धर्मपरायणा और दान शीला महिला थी। जैन महिलाओ के इतिहास में इनका नाम चिरकाल तक अविस्मरणीय रहेगा। अन्तिम समय मे शान्तल देवी भोगो मे विरक्त होकर महीनो तक अनशन, ऊनोदर का पालन करती सल्लेखनापूर्वक परलोक सिधारी थी।

पुराणों मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमे स्त्री ने पति की सेवा करते हुए उसके कार्यों मे, और राज्य के सरक्षण मे तथा अवसर आने पर युद्ध मे सहायता कर दुश्मन के दात खट्टे किये है।[१२]

गंग नरेश रक्कसमणि की पत्नी सावियब्बे अपने पति के साथ युद्ध करने 'बागेयूर' गई थी और वहां पराक्रमपूर्वक शत्रु से लड़ते हुए वीर गति को प्राप्त हुई थी। शिलालेख मे इस सुन्दरी को धर्मनिष्ठ, जिनेन्द्र भक्ति मे तत्पर, रेवती, सीता और अरुन्धती के सदृश बतलाया है।

बारहवी शताब्दी तक मथुरा भी जैन धर्म का एक महान केन्द्र रहा है एक लम्बे समय तक जैन कला यहां अनेक रूपो मे विकसित होती रही यहा पर जैन धर्म से संबंधित कई हजार वर्ष के प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए है। इन अवशेषो मे से बहुत से ऐसे है जिनमे सस्कृत प्राकृत भाषा के अभिलेख मिले है। अभिलेखो मे दो प्रकार की स्त्रियो के उल्लेख है एक तो भिक्षुणियो के जिनके लिये आर्या शब्द का प्रयोग है। दूसरी गृहस्थ स्त्रिया है जिन्हे श्राविका नाम से जाना गया है। आर्यिकाये श्राविकाओ को धर्म, दान, ज्ञान का प्रभावपूर्ण उपदेश देती थी। उनके उपदेश से गृहस्थ नारियां विभिन्न धार्मिक कार्यों मे प्रवृत होती थी। लवण शोभिका नामक गणिका की पुत्री 'वसु' ने अर्हत् पूजा के लिये एक देवकुल, आयोगसभा, कुण्ड तथा शिलापट्ट का निर्माण कराया जिसकी स्मृति उसने एक सुन्दर आयोगपट्ट पर छोडी है।[१३]

[शेष पृ० २३ पर]

५. अजितनाथ पुराण, आश्वास १२।

६. शान्तिपुराण की प्रस्तावना।

७. अजितपुराण आश्वास १२।

८. बम्बई कर्णाटक शासन संग्रह, भाग १, ५२ नम्बर वाला लेख।

९. श्रवण बेलगोल शिला लेख न० ४८९ (४००)।

१०. श्रवण बेलगोल के शक स० ६२२ के शिलालेख।

११. श्रवण बेलगोल के शिला लेख नं० ५६।

१२. चन्द्रगिरी पर्वत के शिला लेख नं० ६१।

१३. प्राचीन मथुरा की जैन कला मे स्त्रियो का भाग—लेखक—कृष्णदत्त बाजपेयी।

दक्षिण की जैन पंडित परंपरा

□ पं० मल्लिनाथ जैन शास्त्री, मद्रास

तमिल, कर्नाटक, आंध्र और मलयांक नामक चार प्रान्तो से जो समाविष्ट है, उसे दक्षिण भारत कहते है। मगर इसमे विचार करने की बात यह है कि तमिल और कर्नाटक प्रान्तो मे ही आज भी जैन धर्म अवशिष्ट है और जैन विद्वद्रत्नों से रचे गये अमूल्य जैन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। लेकिन आंध्र और मलयालं मे, न तो स्थानीय जैनी लोग रहते है और न जैन ग्रन्थो की उपलब्धियाँ पायी जाती है। इसका मतलब यह नही है कि पुराने जमाने मे भी वहाँ जैनी लोग न थे। परन्तु भरमार जैनी लोग रहते थे और जैन धर्म भी उन्नत दशा पर था। लेकिन काल के प्रभाव से कहिये या मत-मतान्तरो के विद्वेष से कहिये, वहाँ जैन धर्म जैन समाज एव जैन साहित्य इन सबो का लोप-सा हो गया। फलत अब इन दोनो प्रान्तो मे केवल जैन मन्दिरो के खण्डहर तथा जैनाचार्यों के निवास स्थान के रूप गुफाये, शिलालेख आदि काफी मिलते हे। उनकी सुरक्षा सरकार से किसी तरह नही की जाती।

तमिल और कर्नाटक प्रान्तो म तो जैनी लोग काफी सख्या मे रहते है और जैन साहित्य एव जैन कला आदि की भी उपलब्धियाँ पायी जाती है। तमिल प्रान्त की अपेक्षा कर्नाटक मे प्रभाव कुछ ज्यादा है। उसका बहुत बड़ा कारण वहा के कि जगत्प्रसिद्ध विंध्यगिरी के अधिनायक भगवान गोमटेश्वर है।

तमिल प्रान्त के निवासी होने के नाते मैं इस प्रान्त के जैन विद्वद्रत्नो की रचना एव सेवा आदि को बता कर आप सज्जनो को चकित कराने का प्रयत्न करूँगा वास्तव मे, तमिल भाषा के अन्दर जैन पण्डितो की जो रचनाये मिलती है, उन सबको तमिल भाषा से अलग कर दिया जाये, तो तमिल भाषा एकदम फीकी रहेगी। इसका मतलब यह है कि जैन पंडित कहिय या जैनाचार्य कहिये अथवा विद्वन्मण्डली कहिय कुछ भी हो, उनकी परंपरागत रचनायें ही साहित्य क्षेत्र मे या भाषा के क्षेत्र मे मेरु शिखर के समाज महनीय गरिमा से ओत-प्रोत हैं। उनका विवरण आगे दिया जा रहा है।

तमिल मे उपलब्ध ग्रन्थ राजो से पता लगता है कि उनके निर्मातागण ज्ञान सिन्धु के अमूल्य रत्न थे। ऐसे ज्ञान पारावार के कुछ अद्भुत रत्नो का परिचय कराना अत्यन्त आवश्यक समझता हू। विद्वद्रत्न पंडितो ने आश्चर्यमय रचनायें तो की है, मगर नाम और यश को नगण्य समझने वाले वे महापुरुष कई ग्रन्थराजो के अन्दर अपने नाम तक नही दिये हैं। ऐसे उदारमना सत्पुरुषो के बारे मे क्या कहा जाय? जिन-जिन के नाम मिलते हैं, उन्हें नाम से जानें जिनके नाम नही मिलते उन्हे उनके ग्रन्थो से परिचय कर लें। अत: काल और ग्रन्थो के नाम देने के साथ जिन महान आचार्यों पंडितो के नाम मिलते है यहाँ सिर्फ उन्हे सूचित करूँगा।

उन महान आचार्य पण्डितो का काल, नाम और ग्रन्थ सारणी मे दिये गये है। इनसे पता चलता है कि इन्होंने सभी प्रकार के विषयों पर ग्रन्थ लिखे है। ये ग्रन्थ ईसापूर्व सदियो से आज तक लिखे पाये जाते है।

सारणी/तामिल में जैन पंडित परंपरा का विवरण

काल	पंडितो के नाम	साहित्य ग्रन्थ
(अ) प्रमुख ग्रन्थ		
ई० पूर्व ३०० वर्ष	अगत्तियर	पेरगत्तिय
,, ,, ,,	तोलकाप्पियर	तोलकाप्पियं
,, ,, २०० वर्ष	—	तामोल संघ के ग्रन्थ
,, ,, १०० वर्ष	देवर	तिरुक्कुरल
ई० दूसरी शताब्दी	इलंगोवडिगल	शिलप्पधिकार
,, चौथी ,,	तिरुत्तक्करेवर	जीवक चिन्तामणि
,, ,, ,,	तिरुत्तक्करेवर	नरिविरुत्तम
,, पाँचवी ,,	तोलामालिदेवर	चूलामणि

ई० ५वीं शताब्दी	कोंगुवेल्रि (राजा)	पेरुंगदै
,, ,, ,,	वलैयापति	वलैयापति
,, दसवी ,,	समय दिवाकर वामन मुनिवर	मेरु मन्दिर पुराण
,, ,, ,,	—	नारदचरित
,, ,, ,,	जेयं कोण्डार	कलिंगत्तुपरणि
,, ग्यारहवीं ,,	—	शान्तिपुराण
,, बारहवीं ,,	—	उदयणकुमार काविय
,, ,, ,,	—	इन्दिर कावियं
,, ,, ,,	—	नक्कीर अडिनूल
,, ,, ,,	—	नंदत्तं
,, ,, ,,	—	तक्काणियं
,, ,, ,,	—	यशोधर काविय
,, ,, ,,	—	नागकुमार कावियं
,, चौदहवीं ,,	—	किलिविरुत्तं
,, ,, ,,	—	एलिविरुत्त
,, ,, ,,	—	मल्लिनाथ पुराण

(ब) कोश रचनायें

काल	पंडितों के नाम	कोश ग्रन्थ
ई० चौथी ,,	दिवाकर	दिवाकरं
,, ,, ,,	पिंगलंदै (दिवाकर के पुत्र)	पिंगलन्दै
,, नौवीं ,,	मण्डलपुरूडर	चूडामणि निगण्डु

(स) व्याकरण रचनायें

ई० दसवीं सदी	अमित सागरर	याप्पेरुङ्गल
,, ,, ,,	,,	याप्पेरुङ्गलक्कारिकै
,, बारहवी ,,	भवणंदि मुनि	नन्नूल
,, ,, ,,	—	नेमिनाथ
,, ,, ,,	अविनायनार	अविनय
,, ,, ,,	—	इन्दिरकाणियं
,, ,, ,,	—	अणिइयल
,, ,, ,,	—	वाप्पिय
,, ,, ,,	—	मोलिवारि
,, ,, ,,	—	कडियनन्नियं
,, ,, ,,	—	काक्कैपाडियं
,, ,, ,,	—	सव याप्पु

,, तेरहवीं ,,	—	वेण्पा पट्टियल

(द) नीति ग्रन्थ रचनायें

चौथी सदी	जैन साधुगण	नालडियार
,, ,,	मुन्दुरैयनार	पलमालिनानूरु
,, ,,	—	आचारक्कोवै
,, ,,	—	सिरुपंच मूलं
,, ,,	कणमेदैयार	एलादि
,, ,,	मुनैप्पाडियार	अरनेरिच्चार
,, ,,	—	तिणैमालैनूरैंबदु
,, ,,	—	तिरिकडुकं
,, ,,	—	इन्ननार्पदु
,, ,,	—	इनियवैनार्पदु
,, ,,	—	नान्मणिकाडिकं
तेरहवी ,,	—	जीव सबोधनै
,, ,,	—	कोंगुमण्डल शतकं
,, ,,	—	नेमिनाथ शतकं

(य) तर्कग्रन्थ रचनायें

११वीं सदी	—	नीलकेशि
,, ,,	—	पिंगलकेशि
,, ,,	—	अंजनकेशि
,, ,,	—	तत्त्व दर्शनं

(र) संगीत ग्रंथ रचनायें

दसवी सदी	—	पेरु कुरुगु
,, ,,	—	पेरु नारै
,, ,,	—	सेयिट्रियं
,, ,,	—	भरत सेनापतिय
,, ,,	—	सयन्त
,, ,,	—	इसैनुणुक्क
,, ,,	—	सिट्रिसै
,, ,,	—	पेरिसै

(ल) नाटक ग्रंथ रचनायें

दसवीं सदी	—	गुणनूल
,, ,,	—	अगत्तियं
,, ,,	—	कूत्तनूलसन्द

(व) ज्योतिष ग्रंथ रचनायें

बारहवी सदी	जिनेन्द्र कवि	जिनेन्द्र मालै
,, ,,	,,	उल्लमुडैयान

(श) गणित ग्रन्थ रचनायें

दसवी सदी	—	केट्टिएणवुवडि
,, ,,	—	कणक्कधिकार
,, ,,	—	नल्लिलक्ककवाटपाट्ट
,, ,,	—	सिरुकुलि
,, ,,	—	कीलवाय इलक्कं
,, ,,	—	पेरुक्कलवायुपाडडु

(स) प्रबन्ध ग्रन्थ रचनायें (स्तोत्र)

दसवी सदी	—	निरुक्कल बकं
,, ,,	—	तिरुनूटुंदादि
,, ,,	—	निरुवेंबावै
,, ,,	—	निरुप्पामालै
,, ,,	—	अप्पाण्डैनादर उला
,, ,,	—	तिरुप्पुकल
१४वीं ,,	—	आदिनाथर पिल्लै-तमिल
,, ,,	—	तिरुमेट्रिसैयन्दादि
१५वीं ,,	—	धर्मदेवि अन्दादि
,, ,,	—	तिरुनादरकुंद्रंपदिकं
,, ,,	—	तोत्तिरत्तिरट्टु

इनके अलावा और भी कई ग्रन्थो और विषयों के नाम मिलते है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि तमिल भाषा के प्रवीण आचार्य पडितो के प्रबल ग्रन्थराज कितने है और कितने रहे होंगे ? ये सब के सब जैन आचार्य पडितो की कृतियां है। इनमे कुछ तो प्राप्य है, कुछ अप्राप्य भी है इन महान पंडितों की विद्वत्ता एवं विचारशीलता पर कोटिशः प्रणाम। □□□

[पृष्ठ १८ का शेषांश]

विषाद करने को कुछ नही। इसलिए नए कर्म का बन्ध हुआ नही और अपने आपमे स्थिर हो गया। इसलिए जिन कर्मों का सम्बन्ध था वे नष्ट हो गए। इस प्रकार राग-द्वेष का अभाव होने से परमात्मा हो गया अथवा ब्रह्ममय हो गया। राग-द्वेष रूप विकारों का अभाव हो गया। आत्मा के ज्ञान दर्शनादि गुणो का पूर्ण विकास हो गया, यही परमात्म अवस्था है।

अगर आप और हम चाहें तो इस उपाय से आज भी अपने को सुखी बना सकते हैं। यह पुरुषार्थ तो हम करते नहीं, परन्तु यह मान रखा है कि धन वैभव से सुखी हो जायेंगे, इसलिए उनकी चेष्टा करते है, उनका प्राप्त होना भी पुण्यादि के अधीन है और प्राप्त होने पर भी आकुलता ही आकुलता रहती है, आनन्द प्राप्त होता नहीं, फिर भी आत्म-कल्याण का उपाय करते नहीं, यही अज्ञानता है। इस अज्ञानता को जाने और आप पुरुषार्थ करके मेटना चाहें तो यह मिट सकती है और यह अपने असली आनन्द को प्राप्त कर सकता है। □□□

[पृष्ठ २० का शेषांश]

इस प्रकार महिलाओ द्वारा बनवाये हुए आयागपट्ट, तोरण विविध स्तंभ, प्रतिमाओं की चरण चौकियां, मूर्तियां यह सिद्ध करती है कि शताब्दियो पूर्व जैन नारी इन सब कलाकृतियों के निर्माण कार्य मे, पुरुष की अपेक्षा अधिक रुचि लेती थीं। ये कलाकृतिया हमारी बहुमूल्य धरोहर हैं। इन उदार चेता प्राचीन नारी के आध्यात्मिक कला प्रेम एवं धार्मिक अभिरुचि की झांकी देखने को मिलती है। ये सब अवशेष इस समय मथुरा और लखन के संग्रहालयों मे सुरक्षित हैं। अनेक विदुषी नारियों ने केवल अपना ही उत्थान नही किया अपने पति को भी जैन धर्म की शरण मे लाने का उत्कट प्रयत्न किया। राजा श्रेणिक भारतीय इतिहास की अविच्छिन्न कड़ी है। श्रेणिक मगध में जैन धर्म का पहला राजा था, जिसके ऐतिहासिक उल्लेख जैन ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा मे मिलते है।[१४] इतिहास साक्षी है कि राजा श्रेणिक भगवान महावीर के उपदेशो का प्रथम श्रोता था। इन्होंने भगवान से साठ हजार प्रश्न पूछे थे जिनका भगवान के व्यापक उत्तर देकर उन्हे सन्तुष्ट किया था। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिये कि राजा श्रेणिक को जैन धर्मानुयायी बनाने का श्रेय उनकी पत्नी रानी चेलना को है। व रानी चेलना जैसी धर्मपिपासु मां के दोनो पुत्र अभयकुमार, व वारिषेण, भी विद्वान संयमी और आत्मसाधना के पथ के पथिक बने। इन दोनों ने सांसारिक सुख एवं वैभव का परित्याग कर आत्मकल्याण हेतु कठोर तपश्चर्या को स्वीकार किया।

प्राध्यापिका, महाराजा कालेज, छतरपुर

१४. भारतीय इतिहास की रूप रेखा—लेखक—जयचन्द्र विद्यालंकार।

यूनानी* दर्शन और जैन दर्शन

□ डा० रमेशचन्द जैन

यूनान पश्चिममें दर्शन का जन्म स्थान समझा जाता है। यहाँ थेल्स ६२४-५५५ ई० पू०) का नाम दार्शनिको की श्रेणी मे प्रथम गिना जाता है वह सर्वसम्मति से यूनानी दर्शन का पिता माना जाता है। थेल्स ने जल को सारे प्राकृत जगत् का आदि और अन्त कहा, जो कुछ विद्यमान है वह जल का विकास है और अन्त मे फिर जल मे ही विलीन हो जायगा एनेक्जिमिनीज (६११-५४७ ई० पू०) ने जल के स्थान मे वायु को जगत का आदि और अन्त कहा। उसके अनुसार सारा दृष्ट जगत् वायु के सूक्ष्म और सघन होने का परिणाम है पाइथोगोरस (छठी शती ई० पू०) ने सख्या को विश्व का मूल तत्व कहा। उसके अनुसार हम ऐसे जगत् का चिन्तन कर सकते है, जिसमे रंग, रूप न हो, परन्तु हम किसी ऐसे जगत् का चिन्तन नही कर सकते, जिसमे सख्या का अभाव हो। जैन दर्शन के अनुसार जगत् अनादि, अनन्त है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यो का समुदाय जगत् है। जल तथा वायु पौद्गलिक परमाणु है जो अनेक रूपों मे परिवर्तित होते रहते है। इनमे यद्यपि निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु ये अपने पौद्गलिक स्वभाव को नही छोड़ते है। छहो द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव से युक्त है और अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते है।

इलिया के सम्प्रदाय (जिसमे पार्मेनाइडिस और जीनोफेनीज के नाम प्रमुख है) वालो का कहना था कि दृष्ट जगत् असत् है, आभास मात्र है। भाव और अभाव, सत् और असत् मे कोई मेल का बिन्दु नही। सत् असत् से उत्पन्न नही हो सकता, न सत् असत् बन सकता है। जगत् का प्रवाह जो हमे दिखाई देता है, माया है, इसमे सत् या भाव का कोई अंश नही। जैन दर्शन के अनुसार दृष्ट जगत् सर्वथा असत् अथवा आभास मात्र नहीं है। यदि कार्य को सर्वथा असत् कहा जाय तो वह आकाश के पुष्प समान न होने रूप ही है। यदि असत् का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादान कारण का कोई नियम नही रहता और न कार्य की उत्पत्ति का कोई विश्वास ही बना रहता है।[1] गेहूं बोकर उपादान कारण के नियमानुसार हम यह आशा नहीं रख सकते कि उससे गेहूं ही पैदा होंगे। असदुत्पाद के कारण उससे चने जौ या मटरादिक भी पैदा हो सकते है और इसलिए हम किसी भी उत्पादन कार्य के विषय मे निश्चित नही रह सकते, सारा ही लोक व्यवहार बिगड जाता है और यह सब प्रत्यक्षादिक के विरुद्ध है।[2] भाव और अभाव, सत् और असत् मे कोई मेल का बिन्दु न हो ऐसा नही है। भाव और अभाव, सत् और असत् एक ही वस्तु मे अविरोध रूप से विद्यमान है। द्रव्य स्वरूप, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा कथन किया जाने पर अस्ति है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से कथन किया जाने पर नास्ति है।[3] जैसे—भारत स्वदेश भी है और विदेश भी है। देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है।

पार्मेनाइडिस (५वीं शती ई० पूर्व) का कहना था कि सत् नित्य और अविभाज्य है। इसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता, क्योंकि परिवर्तन तो असत् का लक्षण है। जैनाचार्यों ने द्रव्य का लक्षण सत् मानते हुए भी उसे

---

* आधार ग्रन्थ।

१. यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत्।
मोपादाननियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥
समन्तभद्रः आप्तमीमांसा-४२

२ देवागमस्तोत्र-भाष्य (प जुगलकिशोर मुख्तार)—४२

३. तत्र द्रव्य स्वक्षेत्र, स्वकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं,
परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त माना है।[४] एक जाति का अविरोध जो क्रमभावों भावों का प्रवाह उसमे पूर्वभाव का विनाश सो व्यय है, उत्तरभाव का प्रादुर्भाव उत्पाद है। और पूर्व उत्तर भावो के व्यय उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग ध्रौव्य है। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सामान्य कथन से द्रव्य से अभिन्न है और विशेष आदेश से भिन्न है, युगपद् वर्तते है और स्वभावभूत है।[५] इस प्रकार वस्तु को उत्पाद, व्यय ध्रौव्ययुक्त मान लेने पर परिवर्तन रहित नित्यवस्तु का अस्तित्व सिद्ध नही होता है। आचार्य समन्तभद्र ने कार्य कारणादि के एकत्व (अविभाज्यता) का भी विरोध किया है। उनका कहना है कि कार्य-कारणादि का सर्वथा एकत्व माना जाय तो कारण तथा कार्य मे से किसी एक का अभाव हो जायगा और एक के अभाव से दूसरे का भी अभाव होगा; क्योंकि उनका परस्पर में अविनाभाव है।[६] तात्पर्य यह कि कारण कार्य की अपेक्षा रखता है। सर्वथा कार्य का अभाव होने पर कारणत्व बन नही सकता और इस तरह सर्व के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

जीनोफेनीज (४६५ ई० पू०) ने यह बताने का प्रयत्न किया कि गति का कोई अस्तित्व नहीं। जैनदर्शन मे जीव और पुद्गलों की गति मे नियामक द्रव्य धर्म को स्वीकार किया गया है। इसके लिए यहाँ आगम और अनुमान प्रमाण उपस्थित किए गए है। अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हुए कहा गया है कि जैसे अकेले मिट्टी के पिण्ड से घड़ा उत्पन्न नहीं होता, उसके लिए कुम्हार, चक्र, चीवर आदि अनेक बाह्य उपकरण अपेक्षित होते है, उसी तरह पक्षी आदिकी गति और स्थितिभी अनेक बाह्य कारणो की अपेक्षा कराती है। इनमे सबकी गति और स्थिति के लिए साधारण कारण क्रमश: धर्म और अधर्म होते है। यदि यह नियम बनाया जाय कि 'जो जो पदार्थ प्रत्यक्ष से उपलब्ध न हों, उनका अभाव है तो सभी वादियो को स्वसिद्धान्त विरोध दोष होता है, क्योंकि प्राय: सभी वादी प्रत्यक्ष पदार्थों को स्वीकार करते ही है।[७]

हिरेक्लिटस (५३५-४७५ ई० पू०) का कहना था कि अग्नि विश्व का मूलत्व है। मूल अग्नि अपने आप को वायु में परिवर्तित करती है, वायु जल बनती है और जल पृथ्वी का रूप ग्रहण करता है। यह नीचे की ओर का मार्ग है, इसके विपरीत ऊपर की ओर का मार्ग है। इसमे पृथिवी जल में, वायु जल में, वायु अग्नि मे बदलते है। जैन दर्शन अग्नि आदि के परमाणु को वायु आदि के परमाणुओं के रूप में बदलना तो मानता है। किन्तु उनका मूल पौद्गलिक परमाणु ही है। पुद्गल विश्व के निर्माणकर्ता छ: द्रव्यों मे एक है। हिरेक्लिटस के अनुसार संसार मे स्थिरता का पता नही चलता, अस्थिरता ही विद्यमान है। जो कुछ है, क्षणिक है। हिरेक्लिटस के इस क्षणभंगवाद की तुलना बौद्धो के क्षणभङ्गवाद से की जाती है। क्षणभङ्गवाद का जैन आचार्यों ने अनेक स्थानो पर खण्डन किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—"यदि वस्तु का स्वभाव क्षणभङ्गर ही माना जाय तो पूर्वकृत कर्मों का फल बिना भोगे ही कृश हो जायगा। स्वयं नही किए हुए कर्मों का फल भी भोगना पड़ेगा तथा ससार का, मोक्ष का और स्मरणशक्ति का नाश हो जायगा।[८] तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी मानने पर आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नही बन सकता तथा आत्मा के न मानने पर संसार नही बनता; क्योंकि क्षणिकवादियों के मत मे पूर्व और अपर क्षणो मे कोई सम्बन्ध न होने से पूर्वजन्म के कर्मों का जन्मान्तर मे फल नही मिल सकता। यदि कहो कि सन्तान का एक क्षण दूसरे क्षण से सम्बद्ध होता है। मरण के समय रहने वाला ज्ञानक्षण भी दूसरे विचार से सम्बद्ध होता है। इसलिए ससार की परम्परा सिद्ध होती है। यह ठीक नही; क्योंकि सन्तान क्षणो का परस्पर सम्बन्ध करने वाला कोई पदार्थ नही है; जिससे दोनों क्षणो का परस्पर

---

४. द्रव्य सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं। पंचास्तिकाय—१०

५. वही अमृतचन्द्रचन्द्राचार्य कृत टीका पृ० २७।

६. एकत्वेऽन्यतराभाव: शेषाऽभावोऽविनाभुवः॥ देवागमस्तोत्र—६९

७. तत्त्वार्थवार्तिक ५।१७।३२।३५।

८. कृत प्रणाशाऽकृतकर्मभोगभव,
प्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो,
महासाहसिक: परस्ते॥१८॥ स्याद्वाद मंजरी

सम्बन्ध हो सके। आत्मा के न मानने पर मोक्ष भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि संसारी आत्मा का अभाव होने से मोक्ष किसको मिलेगा; क्षणभङ्गवाद में स्मृति ज्ञान भी नही बन सकता; क्योंकि एक बुद्धि से अनुभव किए हुए पदार्थों का दूसरी बुद्धि मे स्मरण नही हो सकता। स्मृति के स्थान में संतान को एक अलग पदार्थ मान कर एक सन्तान का दूसरी सन्तान के साथ कार्य कारण भाव मानने पर भी सन्तानक्षणो की परस्पर भिन्नता नही मिट सकती; क्योंकि क्षणभङ्गवाद मे सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं।

ल्युसिप्पस (३८० ई० पू०) ने मूलतत्त्व परमाणु माना। हम इसे देख नही सकते; इसका विभाजन नहीं हो सकता; यह ठोस है। यह नित्य है। परमाणुओ के योग से सारे पदार्थ बनते है। इन परमाणुओ मे मात्रा और आकृति का भेद है। इस भेद के कारण उनकी गति भी एक समान नही होती। सारी क्रिया इस गति का फल है। गति के लिए अवकाश की आवश्यकता है। ल्यूसिप्पस ने परमाणुओं के साथ शून्य अवकाश को भी मूलतत्त्व स्वीकार किया। पदार्थों मे और अवकाश मे भेद यह है कि पदार्थ अवकाश का भरा हुआ भाग है। इस भेद को दृष्टि मे रखते हुए विश्व अशून्य और शून्य मे विभक्त किया गया। ल्युसिप्पस ने प्राकृत जगत के समाधान के लिए किसी अप्राकृत तत्त्व या शक्ति का सहारा नही लिया। उसके मत मे जो कुछ होता है, प्राकृत नियम के अनुसार होता है, यहाँ किसी प्रयोजन का पता नही चलता।

जैनदर्शन मे पुद्गल के दो भेद कहे गए है - १. अणु २. स्कन्ध। जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रिया ग्रहण नही कर सकती ऐसा जो विभागरहित द्रव्य है, वह परमाणु है।[९] विश्व का मूलतत्त्व केवल परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य न होकर छह द्रव्य है। परमाणु में भी उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यपना पाया जाता है अतः वह नित्यानित्य अथवा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, सर्वथा नित्य नही है। पुद्गल का सबसे सूक्ष्म अविभागी अंश होने के कारण परमाणुओं मे मात्रा और आकृति का भेद नही होता। यह भेद उसके स्कन्ध बनने पर होता है। जीव और पुद्गलो की गति मे सहायक धर्मद्रव्य है।[१०] क्रिया काल द्रव्य का उपकार है।[११] अवगाह देना आकाश का उपकार है।[१२] यह आकाश दो प्रकार का है—१. लोकाकाश और २. अलोकाकाश। जितने आकाश में लोक है, वह लोकाकाश है शेष अलोकाकाश है। लोकाकाश में छहों द्रव्य पाए जाते है और अलोकाकाश में केवल आकाशद्रव्य पाया जाता है।

एनैक्सेगोरस (५००-४२८ ई० पू०) का कथन है कि जगत् का मूल कारण असख्य प्रकार के परमाणुओ की असीम मात्रा है। यह सामग्री आरम्भ मे पूर्णतया अव्यवस्था विहीन थी। अब सोने, चादी, मिट्टी, जल आदि के परमाणु एक प्रकार के है, आरम्भ मे ये सारे एक-दूसर से मिले थे। उस समय न सोना था न मिट्टी थी। अव्यवस्थित दशा से व्यवस्था कैसे पैदा हुई? स्वय परमाणुओ मे तो ऐसी समझ की क्रिया की योग्यता न थी, यह क्रिया चेतन सत्ता की अध्यक्षता में हुई। इस चेतन सत्ता को एनेक्सेगोरस ने बुद्धि का नाम दिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि जैनदर्शन मे लोक छहों द्रव्यों से बना हुआ निरूपित है, केवल परमाणुओ से निर्मित नही है। परमाणुओं का मिलना, बिछुड़ना अनादि काल से अपने आप होता आया है। ऐसा नहीं है कि प्रारम्भ मे परमाणु अव्यवस्थित थे तथा अब चेतन के द्वारा व्यवस्थित हो गए है। अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है।[१३] न संघात से होती है और न भेद और सघात इन दोनो से ही होती है। भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।[१४]

---

९. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेवइंदिये गेज्झं।
जं दव्व अविभागी तं परमाणु विआणाहि ॥
सर्वार्थसिद्धि पृ० २२१

१०. गतिस्थिति त्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ तत्त्वार्थ सूत्र ५।१७

११. वर्तमानपरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ वही ५।२२

१२. आकाशस्यावगाहः ॥ वही ५।१८

१३. भेदादणुः ॥ वही ५।२६

१४. भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ वही ५।२८

प्रोटेगोरस (४२०-४११ ई० पू०) ने इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ज्ञान को नहीं माना। प्रोटेगोरस का यह कथन चार्वाक दर्शन से मिलता-जुलता है; क्योंकि चार्वाक ने भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का प्रमाण नहीं माना। इसके खण्डन स्वरूप जैनदार्शनिकों ने धर्मकीर्ति के उस कथन को प्रायः उद्धृत किया है। जो उन्होंने अनुमान प्रमाण की सिद्धि के प्रसङ्ग मे कहा है तदनुसार 'किसी ज्ञान मे प्रमाणता और किसी ज्ञान से अप्रमाणता की व्यवस्था होने से, दूसरे (शिष्यादि) मे बुद्धि का अवगम करने से और किसी पदार्थ का निषेध करने से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है। प्रमाणता-अप्रमाणता का निर्णय स्वभाव-हेतु जनित अनुमान से, कार्य से कारण का ज्ञान कार्य हेतु जनित अनुमान से और अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि हेतु जनित अनुमान से किया जाता है। इस प्रकार प्रोटेगोरस का केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता है।

जार्जियस (४२७ ई० पू०) ने निम्न तीन धाराओ को सिद्ध करने का यत्न किया—

१ किसी वस्तु की भी सत्ता नही।

२. यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो उसका ज्ञान हमारी पहुच के बाहर है।

३ यदि ऐसे ज्ञान की सम्भावना है तो कोई मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुचा नही सकता।

जैनदर्शन के अनुसार सत्ता सब पदार्थों मे है। वस्तु कीसत्ता को प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जाता है कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुंचाने मे निमित्त हो सकता है।

पश्चिम मे सुकरात (४६९-३९९ ई० पू०) लक्षण और आगमन दोनों का जन्मदाता है, इसलिए उसका स्थान चोटी के दार्शनिको मे है। उसके अनुसार ज्ञान के कई स्तर है। मैं घोड़े को देखता हूँ—उसका कद विशेष कद है। उसका रंग विशेष रग है। उसकी विशेषताओ के कारण मैं उसे अन्य घोड़ों से अलग करता हू। मेरा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है और यह ज्ञान किसी विशेष पदार्थ का बोध है। जिस घोड़े को मैंने देखा है, उसके न विद्यमान होने पर भी उसका चित्र मेरी मानसिक दृष्टि मे आ जाता है। किसी विशेष घोडे को देखने या उसका मानसिक चित्र बनाने के अतिरिक्त मेरे लिए यह भी सम्भव है कि मैं घोड़े का चिन्तन करूं। ऐसे चिन्तन में मैं किसी विशेष रंग का ध्यान नही करता, क्योकि यह रग सभी घोड़ों का रग नहीं। मैं ऐसे विशेषणों का ध्यान करता हूं जो सभी घोड़ों मे पाए जाते है और सबके सब किसी अन्य पशु जाति मे नही मिलते। ऐसे चिन्तन का उद्देश्य घोड़े का प्रत्यय निश्चित करना है। ऐसे प्रत्यय को शब्द मे व्यक्त करना घोड़े का लक्षण करना है।

जैनदर्शन मे पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य विशेष रूप माने गए है, उनमें सामान्य और विशेष की प्रतीति कराने के लिए पदार्थान्तर मानने की आवश्यकता नही।[15] आत्मा पुद्गलादि पदार्थ अपने स्वरूप से ही अर्थात् सामान्य और विशेष नामक पृथक् पदार्थों की बिना सहायता के ही सामान्य विशेष रूप होते है। एकाएक और एक नाम से कहीं जाने वाली प्रतीति को अनुवृति अथवा सामान्य कहते है। सजातीय और विजातीय पदार्थों से सर्वथा अलग रहने वाली प्रतीति को व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते है। इसी सामान्य तथा विशेष की व्याख्या सुकरात ने उदाहरण देकर की है।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) के मतानुसार प्रत्ययों का जगत अमानवीय जगत है; इसकी अपनी वस्तुगत सत्ता है। दृष्ट पदार्थ इसकी नकल है। कोई त्रिकोण जिसकी हम रचना करते है, त्रिकोण के प्रत्यय की पूर्ण नकल नही। हर एक विशेष पदार्थ मे कोई न कोई अपूर्णता होती ही है। इसी अपूर्णता का भेद विशेष पदार्थों को एक दूसरे से भिन्न करता है। सारे घोड़े घोड़े के प्रत्यय की अपूर्ण नकलें है। सारे मनुष्य मनुष्य के प्रत्यय की अधूरी नकलें है कोई प्रत्यय पदार्थों पर आधारित नही, प्रत्यय तो उनकी रचना का आधार है। प्रत्यय और उसकी नकलो का भेद सामान्य और विशेष के रूप में

१५. स्वतोऽनुवृत्तिव्यतिवृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः।
परात्मतत्त्वादयात्मतत्त्वाद् द्वय वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति॥ आचार्य हेमचन्द्रः अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका-४

पीछे प्रसिद्ध हुआ। प्रत्यय और आदर्श एक ही है।

जैनदर्शन उपर्युक्त प्रत्ययों एवं उसकी नकलों की मान्यता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार दृष्ट पदार्थ किसी प्रत्यय की नकल नहीं, वास्तविक है। ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि वह पदार्थों को जानता है। ज्ञान में झलकने के कारण ही पदार्थ ज्ञेय नाम को पाते हैं। सामान्य से रहित विशेष और विशेष से रहित सामान्य की उपलब्धि किसी को नहीं होती। यदि दोनों की निरपेक्ष स्थिति मान ली जाय तो दोनों का ही अभाव हो जायगा। कहा भी है—

"विशेष रहित सामान्य खरविषाण की तरह है और सामान्यरहित होने से विशेष भी वैसा ही है।"[१६]

वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है और यह लक्षण अनेकान्तवाद में ही ठीक-ठीक घटित हो सकता है। गो के कहने पर जिस प्रकार खुर, ककुत्, सास्ना, पूंछ, सींग आदि अवयवों वाले गो पदार्थ का स्वरूप सभी गो व्यक्तियों में पाया जाता है, उसी प्रकार भैंस आदि की व्यावृत्ति भी प्रतीत होती है।[१७] अतएव एकान्त सामान्य को न मान कर पदार्थों को सामान्य विशेष रूप ही मानना चाहिए। प्लेटो ने ज्ञान के तीन स्तर स्वीकार किए। सबसे निचले स्तर पर विशेष पदार्थों का इन्द्रियजन्य ज्ञान है। ऐसे ज्ञान में सामान्यता का अंश नहीं होता जो पदार्थ मुझे हरा दिखाई देता है और तीसरे को रंगविहीन दिखाई देता है। पदार्थों के रूप, उनके परिमाण आदि के विषय में ऐसा ही भेद होता है। प्लेटो के अनुसार ऐसा बोध ज्ञान कहलाने का पात्र ही नहीं; इसका पद व्यक्ति की सम्मति का है। इससे ऊपर के स्तर का ज्ञान रेखागणित में दिखाई देता है। हम एक त्रिकोण की हालत में सिद्ध करते हैं कि उसकी कोई दो भुजायें तीसरी से बड़ी है और कहते हैं कि यह सभी त्रिकोणों के विषय में सत्य है। गणित के प्रमाणित सत्यों से भी ऊँचा स्तर तत्त्वज्ञान का है जिसमें सत् को साक्षात् देखते हैं, तत्त्वज्ञान ही वास्तव में ज्ञान कहलाने के योग्य हैं।

जैनदर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद माने गए हैं— १. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान हो, वह सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष है। यह यथार्थ रूप में परोक्ष ज्ञान ही है; क्योंकि इसमें इन्द्रिय और मन के अवलम्बन की आवश्यकता होती है। इन्द्रिय और मन के द्वारा जो जानकारी होती है, वह पूरी तरह से यथार्थ हो, ऐसा नहीं है। काच, कामला आदि रोग के कारण किसी को रंग के विषय में भ्रान्ति हो जाय तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे ऐन्द्रियक ज्ञान भ्रान्त है। यदि सारे ऐन्द्रियिक ज्ञान को भ्रान्त माना जाय तो लोक व्यवहार का ही लोप हो जायगा। प्लेटो के ज्ञान के प्रथम दो स्तरों का समावेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में हो जाता है। जैनदर्शन में इसे ज्ञान की श्रेणी में रखा गया है। तत्त्वज्ञान इस ज्ञान से ऊँचा अवश्य है, क्योंकि इसमें युगपत् अथवा अयुगपत् सारे पदार्थों का ज्ञान होता है। केवल केवली भगवान ही युगपत् सारे पदार्थों को जानते है, अन्य संसारी प्राणियों में से जिन्हें तत्त्वज्ञान होता है वे अयुगपत् ही पदार्थों को जानते है। तत्त्वज्ञानी जैसा सत् को देखता है, उसी प्रकार असत् को भी देखता है; क्योंकि वस्तु केवल भावरूप नहीं, अभावरूप भी है।

प्लेटो के विचार में सृष्टि रचना एक स्रष्टा की क्रिया है। स्रष्टा प्रकृति को प्रत्ययों का रूप देता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयंसिद्ध है। कोई सर्वद्रष्टा सदा से कर्मों से अछूता नहीं हो सकता; क्योंकि बिना उपाय के उसका सिद्ध होना किसी तरह नहीं बनता।[१८]

प्लेटो का प्रत्यय विशेष पदार्थों के बाहर था। अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) का तत्त्व प्रत्येक पदार्थ के अन्दर है। सभी घोड़े घोड़ा श्रेणी में हैं; क्योंकि उन सबमें अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ सामान्य अंश भी विद्यमान है। यह सामान्य अंश भी उस सामान्य अंश से भिन्न है, जो सारे गदहों में पाया जाता है और उन्हें

१६ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।
सामान्य रहित त्वेन विशेषास्तद्वदेव हि॥
मीमांसा श्लोकवार्तिक

१७. मल्लिषेण : स्याद्वादमंजरी पृ० १२४।

१८. नास्पृष्टः कर्मभिः शश्वद् विश्वदृश्वास्ति कश्चन।
तस्यानुपायसिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः॥८॥
आप्तपरीक्षा

गढ़ा बनाता है। अरस्तू ने भी प्लेटो के द्वैत को कायम रखा। परन्तु दोनो अंशो के अन्तर को दूर कर दिया, पदार्थों का तत्त्व न बदलने वाला अश, उनसे पृथक्, उनके बाहर नहीं; उनके अन्दर है। अरस्तू के सामान्य विशेष की यह अवधारणा जैनसिद्धान्त से मिलती-जुलती है। अरस्तू मूल प्रकृति को आकार विहीन मानता था। जैनदर्शन किसी एक द्रव्य को मूल प्रकृति नही मानता! उसके अनुसार पुद्गल द्रव्य ही केवल मूर्ति है, शेष द्रव्य अमूर्तिक है। अरस्तू के विवरण मे चार प्रकार के कारणों का वर्णन है—

१. उपादान कारण।

२. निमित्त कारण।

३. आकारात्मक कारण।

४. लक्ष्यात्मक कारण।

जैनदर्शन में केवल दो कारण माने गए हैं १. उपादान कारण २. लक्ष्यात्मक कारण।

एपिक्युरस (३४२-२७० ई० पू०) ने लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त करने का निश्चय किया, इसके लिए उसने डिमाक्राइटस के सिद्धान्त का आश्रय लिया। उसने कहा कि दृष्ट जगत् परमाणुओ से बना है; इसके बनाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ नही। देवी-देवता तो आप परमाणुओं से बने है; यद्यपि उसकी बनावट के परमाणु अग्नि के सूक्ष्म परमाणु है। जीवात्मा भी ऐसे परमाणुओ का संघात है। मृत्यु होने पर स्थूल परमाणु वातावरण मे जा मिलते है। इस जीवन के बाद कुछ रहता नही; नरक के दण्डों की बाबत कहना और सोचना व्यर्थ है।

जैनदर्शन भी लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त होने का मार्ग बतलाता है, किन्तु उसके अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है।[19] जगत् छः द्रव्यों की निर्मित है। इसके बनाने में किसी (अकेली) चेतनशक्ति का हाथ नही है। देवी देवता का शरीर पौद्गलिक है, उनके पौद्गलिक शरीर में एक क्षेत्रावगाही आत्मा है। ये आत्मायें भिन्न-भिन्न शरीर मे भिन्न-भिन्न है। जीवात्मा परमाणुओं का संघात न होकर उपयोग लक्षण वाला अमूर्त द्रव्य है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर का ही त्याग हो जाता है। तैजस तथा कार्मण शरीर मृत्यु के बाद भी जीव का साथ नहीं छोड़ते हैं। जीव का अस्तित्व अनादि काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा; वह केवल इसी जीवन के लिए नही है। नरकों का अस्तित्व है, उनके दण्डों के विषय में कहना और सोचना व्यर्थ नही है।

एपिक्युरस का यह मत जैनदर्शन से मिलता है कि ससार मे जो कुछ हो रहा है। प्राकृत नियम के अधीन हो रहा है। इसमे किसी चेतन सत्ता का प्रयोजन दिखाई नही देता। मनुष्य स्वाधीनता के उचित प्रयोग से अपने आपको सुखी बना सकता है। एपिक्युरस ने आरम्भ मे क्षणिक तृप्ति को भले ही महत्त्व दिया हो, तो भी पीछे उसने दुःख की निवृत्ति को ही आदर्श समझा। किसी प्रकार की स्थिति मे विचलित न होना, हर हालत में सन्तुलन बनाए रखना भले पुरुष का चिह्न है। दार्शनिक का काम ऐसा स्वभाव बनाना और दूसरो को ऐसा स्वभाव बनाने मे सहायता देना है। जैनदर्शन मे भी धर्म उसे ही कहा गया है, जो प्राणियों को संसार के दुःख से छुड़ा कर उत्तम सुख मे पहुचा दे।[20] आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के साम्यपरिणाम अथवा चारित्र को धर्म कहा है।[21] एपिक्युरस का विचार था कि अपनी आवश्यकताओं को कम करो, इससे मन को शान्ति प्राप्त होगी। जैनदर्शन का अपरिग्रहवाद भी यही है। एपिक्युरस सुखी जीवन के लिए सादगी, बुद्धिमत्ता और न्याय के साथ मित्रता को आवश्यक समझता था। प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखना जैनों का भी मूल मन्त्र है।

एपिक्युरस ने कहा था कि कोई घटना अपने आपमें अच्छी या बुरी नही। हमारी सम्मति उन्हें अच्छा, बुरा

(शेष पृष्ठ आवरण ३ पर)

१९. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १।१

२०. देशयामि समीचीन धर्मम् कर्म निबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥
रत्नकरण्ड श्रावकाचार

२१. चारित्तं खलु धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
प्रवचनसार

हिन्दी साहित्य में नेमी-राजुल

□ डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

हिन्दी के जैन कवियों के अपने काव्यो की विषय-वस्तु प्रमुख रूप से महापुराण, पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण के प्रमुख पात्रों का जीवन रही है। इनमे ६३ शलाका महापुरुषों के अतिरिक्त १६६ पुण्य पुरुषों के जीवन चरित भी जैन काव्यों की विषय-वस्तु के प्रमुख स्रोत रहे हैं। राजुल, मैना सुन्दरी, सीता, अजना, पवनजय, श्रीपाल, भविष्यदत्त, प्रद्युम्न, जिनदत्त, सुदर्शन सेठ आदि सभी पुण्य पुरुष है जिनके जीवन चरित के श्रवण एव पठन मात्र से ही अपार पुण्य की प्राप्ति होती है और वही पुरुष भविष्य मे निर्वाण पथ के पथिक बनने मे सहायक होता है। हिन्दी के ये काव्य केवल प्रबन्ध काव्य अथवा खण्ड काव्य रूप मे ही नही मिलते है लेकिन रास, बेलि, पुराण, छन्द, चौपाई, चरित, ब्याहलो, गीत, धमाल, हिण्डोलना, सतसई, बारहमासा, संवाद, जखडी, पच्चीसो, बत्तीसी, सवैय्या आदि पचासों रूपों मे ये काव्य लिखे गये है जो आज अनुसंधान के महत्त्वपूर्ण विषय बने हुए ह।

लेकिन शलाका पुरुषों एव पुण्य पुरुषो के जीवन सम्बन्धी कृतियों मे राजुलनेमि के जीवन से सम्बन्धित कृतियों की सबसे अधिक सख्या है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन के तोरणद्वार से लौट कर वैराग्य धारण करने की एक मात्र घटना से सारा हिन्दी जैन साहित्य प्रभावित है। उसी घटना को जैन कवियो ने विविध रूपों में निबद्ध किया है। नेमिनाथ के साथ राजुल भी चलती है क्योकि राजुल के परित्याग की घटना को जैन कवियों ने बहुत उछाला है और अपने पाठको के लिये शृंगार, विरह एवं वैराग्य प्रधान सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया है। एक ओर जहाँ बारहमासा काव्यो की सर्जना करके पाठकों को विरह वेदना मे डुबोया है वहाँ दूसरी ओर तोरणद्वार तक जाने के पूर्व का वृत्तान्त शृंगार रस से ओत-प्रोत होता है और वह पाठक के हृदय को खिला देता है और जब वैराग्य धारण करने का प्रकरण चलता है तो सारा काव्य शान्त रस प्रधान होकर हृदय को द्रवीभूत कर देता है। प्रस्तुत शोधपत्र मे हम ऐसे ही काव्यों का उल्लेख कर रहे है जो काव्य के विविध रूपो मे लिखे हुए है तथा जिनकी कथावस्तु नेमिराजुल का जीवन है।

सुमतिगणिनेमिनाथ रास सभवतः हिन्दी मे नेमि राजुल सबधित प्रथम रचना है जिसका रचना काल संवत् १२७० है और जिसकी एक मात्र पाण्डुलिपि जैसलमेर के बृहद ज्ञान भण्डार मे उपलब्ध होती है। इस रास मे तोरणद्वार की घटना का प्रमुखता से वर्णन किया गया है।

१६वी शताब्दी के कवि बूचराज द्वारा नेमि-राजुल के जीवन पर दो रचनाये निबद्ध करना उस समय जन-सामान्य मे राजुलनेमि के जीवन की लोकप्रियता को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त है। बूचराज की एक कृति का नाम बारहमासा है जिसमें सावन मास मे अषाढ मास तक के बारह महीनो के एक एक पद्य मे राजुल की विरह वेदना एव नेमिनाथ के तपस्वी जीवन पर राजुल का आक्रोश व्यक्त किया गया है। बारहमासा में राजुल के मनोगत भावो को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि वह पाठकों को प्रभावित किये बिना नही रहते। कवि के प्रत्येक रास मे व्यथा छिपी हुई है और जब वह परिणय की आशा लगाये नव यौवन राजुल के विरह पर सजीव चित्र उपस्थित करता है तो हृदय फूट-फूट कर रोने लगता है। राजुल को प्रत्येक महीने मे भिन्न-भिन्न रूप में विरह वेदना सताती है और वह उस वेदना को सहन करने मे अपने आपको असमर्थ पाती है। जैन कवियों ने बारहमासा के माध्यम से इस विरह का बहुत सुन्दर एव

सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है। समूचे हिन्दी साहित्य मे इस तरह का बेजोड़ वर्णन अत्यन्त कम मिलता है। बारहमासा के प्रमुख कवियो में निम्न कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

१. विनोदी लाल	२. नग कवि	३. चिमन
४. जीवंधर	५ रवि	६. आनंद
७. पाडे जीवन	८. गोपाल दास	९ लब्धि वर्धन

उक्त सभी कवियो ने राजुलनेमि को लेकर बारह मासा लिखे है जो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सभी कवियो ने अपने बारहमासा को सावन मास से प्रारम्भ किया है। कवि लब्धि वर्धन का सावन मास का एक पद्य देखिए जिसमे राजुल सावन मास मे उत्पन्न बिरह पीडा को व्यक्त कर रही है—

अकटा विकटा निकटा गिरजे गरजे,
धनघोर घटा घन की।
सुजुरि पजुरी विजुरी चमके,
अधियारि निसा अति सावन की॥
पीउ पीउ कहे पिपीया ज वहइ,
कोउ पीर लहे परके मन की।
ऐसे नेमी पियाहो मिलाइ दियइ,
बलि जाऊ सखि जगिवा जन की॥१॥

कविवर गोपालदास ने तो सावन महीने के विरह का इतना विस्तृत वर्णन किया है कि पाठक के मन में राजुल के प्रति सहज स्नेह उत्पन्न हो जाता है। एक उदाहरण देखिये—

फेर ल्यावो नेमि कुमार को, कहै राजुल राणी।
हाथ का देऊं मूंदड़ा अर कुंडल कानी॥१॥
क्यों आये क्यों फिर गये क्यों ब्याह न कीना।
क्यों छोड़ी मृग लोचनी राजा की धीया॥२॥
कांकण बांध्या कर रह्या, रही चवरी छाइ।
मेरा जिनवर रीझा मुगति सो मै अब सुध पाइ॥
मेरी अरंगडीया अल लाईया, भावों की नाईं।
तो न न संभारे मुझको जियड़ा बुझ मांड।
बाबल मेरे क्या कीया, वर देख न दीया।
वह वैरागी जनम का, क्या परणी त्रिया॥५॥

काको पठउ द्वारिका, कोई आइ सुनावै।
काकण भुजते टारि देऊ, इतनो कहि आवै॥६॥

किसी किसी कवि ने तो राजुल और नेमिनाथ के बीच उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप मे बारहमासा लिखा है। बारह महीने तक बहुत कुछ समझाने पर भी जब नेमि को नहीं पिघला सकी तो राजुल ने आर्यिका के व्रत धारण कर लिये। पाण्डे जीवन का बारहमासा इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। राजुल नेमि से कहती है—

असाढ़ मास सुहावनों, कुछ बरसै कुछ नाहि।
नेम पिया घर आइये, क्यूं तुम लोग हसाहि॥
आयो ज मास असाढ़ प्रीतम पहलो व्रत तुम नहि लियो।
छपन कोडि ज भये जनेती, दुष्ट जन कंपो हियो।
बलभद्र और मुरारि संग ले, बहुत सब सरभर करे।
गिरनार गढ़ सैं चलो नेम जी, राजमति चितवन करै॥५॥

नेमि द्वारा उत्तर—

आवो मास असाढ़ ही, मन नही उलसैहि।
मुकति रमण हित कारणे, छाड़े सब घर तोहि॥६॥
जीवन तो निस सुपन जानौं, कहा बड़ाई कीजिये।
ए बंधु भगनी मात पिता हो, सरब स्वारथ लीजिये॥
यहि बात हम सब त्याग दीनो, मोक्ष मारग पगधरो।
कह नेमनाथ सुनो राजुल, चित्त अब तुम बस करो॥

नेमि राजुल पर बारहमासा साहित्य के अतिरिक्त सबसे अधिक सख्या मे रास काव्य मिलते है जिनके रचयिता भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, ब्र० रायमल्ल, विद्याभूषण, अभयचन्द्र, आदि के नाम उल्लेखनीय है। इन रास काव्यों मे नेमिनाथ का पूरा जीवन चित्रित किया गया है। इनमें भी तोरणद्वार से लौटकर वैराग्य धारण करने की घटना का और राजुल के मूर्छित होने की घटनाओं का वर्णन होता है लेकिन उनमे राजुल का एक पक्षीय वर्णन नही होता। रासों की समाप्ति नेमिनाथ के निर्वाण एवं राजुल के स्वर्ग गमन के साथ होती है। रास काव्यों मे नेमिनाथ के साथ दूसरे महापुरुषों का भी वर्णन आता है।

रास काव्यों के समान ही नेमि राजमति बेलि-परक रचनायें भी जैन कवियो ने खूब लिखी है। ऐसी रचनाओं

में कविवर ठाकुरसी एवं सिंघदास की नेमि राजमति बेलि, के नाम उल्लेखनीय है। कविवर ठाकुरसी ने अपनी बेलि मे नेमिनाथ और राजुल के विवाह प्रसंग से लेकर वैराग्य धारण करने और अन्त में निर्वाण प्राप्त करने तक की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसमें नेमिकुमार का पौरुष, विवाह के लिये प्रस्थान, पशुओं की पुकार, राजुल का सौन्दर्य वर्णन, राजुल का विलाप आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी प्रसग मे राजुल द्वारा दूसरे राजकुमार से विवाह करने के प्रस्ताव का दृढ़ता के साथ विरोध किया गया। कवि के शब्दों में उसे देखिए—

जंपइ रायमतीय अणेरा, जिण जिणवर बंधन मेरा।
कै वरउ नेमिकंवर भारी, सखि कै तपु लेउ कुमारी।
चढ़ि गैवरि को खरि बैसे, तजि सरगि नरगि को पैसे।
तजि तीभि भवन को राई, किम अवरनु वरो बस भाई।।

हिन्दी जैन कवियों मे पद साहित्य मे भी नेमि राजुल के सम्बन्ध में अनेक पद लिखे हैं। ये पद शृंगार, विरह एवं भक्ति सभी तरह के हैं। सबसे अधिक विरहात्मक पद भ० रत्नकीर्ति एव कुमुदचन्द्र ने लिखे हैं। इन दोनों कवियों के पदो से ऐसा मालूम देता है मानो इन्होंने राजुल के हृदय को अच्छी तरह पढ़ लिया हो और उनके पदों से उसकी अन्तरात्मा की आवाज ही सुनाई देती है। रत्नकीर्ति राजुल की तड़पन से बहुत परिचित थे। राजुल किसी भी बहाने नेमि के दर्शन करना तो चाहती है। लेकिन वह यह भी चाहती थी कि उसकी आंखे नेमि के आगमन की प्रतीक्षा न करें, लेकिन वे लाख मना करने पर भी नेमि के आगमन की बाट जोहना नही छोड़ते। रत्नकीर्ति कहते हैं—

वरज्यो न माने नैन निठोर।
सुमिरि सुमिरि गुन भये सजल घन।
उमंगी चले मति फोर।।१।।
चंचल चपल रहत नहीं रोके।
न मानत जु निहोर।।
नित उठि चाहत गिरि को मारग।
जे ही बिधि चन्द्र चकोर।।वरज्यो०।।
तन मन धन यौवन नही भावत।
रजनी न भावत भोर।।
रत्नकीर्ति प्रभु वेगो मिलो।
तुम मेरे मन के चोर।।वरज्यो०।।

एक अन्य पद में राजुल कहती है कि नेमि ने पशुओं की पुकार तो सुन ली लेकिन उसकी पुकार क्यों नही सुनी। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वे दूसरों के दर्द को जानते ही नही हैं—

सखी री नेमि न जानी पीर।।
बहोत दिवाजे आये मेरे घरि, संग लेई हलधर वीर।।१।।
नेमि मुख निरखी हरखी मनसूं, अबतो होइ मनधीर।
तामे पसूय पुकार सुनी करी, गयो गिरिवर के तीर।।२।।
चंदवदनी पोकारती डारती, मंडनहार उर चीर।
रतनकीरति प्रभू भये विरागी, राजुल चित कियो धीर।।३।।

इसी तरह एक अन्य पद में राजुल अपनी सखियों से नेमि के लिवाने की प्रार्थना करती है। वह कहती है कि नेमि के बिना यौवन, चंदन, चन्द्रमा ये सभी फीके लगते हैं। माता, पिता, सखियाँ एव रात्रि सभी दुख उत्पन्न करने वाली है। इन्ही भावो को रत्नकीर्ति के एक पद मे देखिये—

सखि को मिलावे नेम नरिंदा।
ता बिन तन मन यौवन रजत है, चारु चंदन अरु चंदा।।१।।
कानन भुवन मेरे जीया लागत, दुसह मदन को फंदा।
तात मात अरु सजनी रजनी, वे अति दुख को कंदा।।२।।
तुम तो शंकर सुख के दाता, करम अति काए मंदा।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु, सेवत अमर नरिंदा।।३।।

लेकिन कवि जब राजुल की सुन्दरता का वर्णन करने लगता है तो वह उसमें भी किसी से पीछे नही रहना चाहता।

चन्द्रवदनी मृग लोचनी, मोचनी खंजन मीन।
वासग जीत्यो वेणिइं, श्रेणिय मधुकर दीन।
युगल गल दाये शशि, उपमा नाशा कीर।
अधर विद्रुम सम उपमा, दंतन निर्मल नीर।
चिबुक कमल पर षटपद, आनन्द करे सुधापान।
ग्रीवा सुन्दर सोभती, कंबु कपोतने वान।।१२।।

भट्टारक कुमुदचन्द ने भी राजलनेमि पर पद लिखे हैं। एक पद में उन्होंने नेमिनाथ के प्रति राजुल की सच्ची पुकार लिखी है। नेमि के बिना राजुल को न प्यास लगती है और न भूख सताती है। नींद नहीं आती और बार-बार उठ कर वह घर का आंगन देखती और नेमि के विरह मे विलाप करने लगती है। इसी पद की दो पंक्तियां देखिये—

सखी री अब तो रह्यो नहिं जात।
प्राणनाथ की प्रीत न बिसरत, क्षण क्षण छीजत गात ॥१॥
नहिं न भूख नहिं तिषु लागत, घरहि घरहि मुरझात।
मन तो उरझी रह्यो मोहन सुं, सेवन ही सुरझात ॥२॥

नेमिराजुल से सम्बन्धित नेमिनाथ के दशभव, नेमिनाथ के बारहभव, नेमिजी को मंगल (जगत भूषण), नेमिनाथ छन्द (शुभचन्द्र), नेमिनाथ फाग (पुण्य रतन), नेमिनाथ मगल (लालचन्द), नेमि व्याहलो, नेमि राजमति, चोमासिया, नेमिराजमति की घोड़ी, नेमि राजुल सज्झाय, नेमिराजमति शतक, आदि कवियों की काव्य रचना।ये राजस्थान के विभिन्न जैन ग्रंथागारों में संरक्षित हैं।

इस प्रकार, नेमि राजुल का जीवन जैन कवियों के लिये आकर्षण का विषय रहा है। यद्यपि अधिकांश जैन साहित्य निवृत्ति प्रधान साहित्य है जिसमें शांत रस की प्रमुखता है लेकिन नेमि राजुल के माध्यम से वे अपनी रचनाओं को शृंगार प्रधान, बिरह परक एव भक्ति परक भी बना सके हैं। एक बात और भी है कि हमारे हिन्दी कवि भ० रतनकीर्ति एवं भ० कुमुदचन्द्र ऐसे समय में हुए थे जब चारों ओर भक्ति एवं शृंगार का वातावरण था। इसलिये इन्होंने भी राजुल को अपना आधार बना कर छोटी छोटी रचनायें निबद्ध करके हिन्दी जैन साहित्य के क्षेत्र को और भी विस्तृत बनाया।

नेमि राजुल से सम्बन्धित हिन्दी काव्यों पर शोध होना आवश्यक है। आशा है कि शोधार्थी इस ओर ध्यान देंगे।

□□□

(पृ० २६ का शेषांश)

बनाती है। क्या किसी पुरुष ने मेरा अपमान किया है? यह तो मेरे समझने की बात है। यदि मैं समझूं कि अपमान हुआ है तो हुआ है, यदि समझूं कि नहीं हुआ तो नहीं हुआ। मेरी घड़ी किसी ने उठा ली है। क्या इससे मेरी हानि हुई है? यह भी समझने का प्रश्न है।यदि मै समझ लूं कि मुझे घड़ी की आवश्यकता ही नही तो जो कुछ मैंने खोया है, उसकी कोई कीमत ही नहीं। हानि कहां हुई है? तुम स्वाधीन हो; अपनी स्वाधीनता का उचित प्रयोग करके विश्वास करो कि तुम्हारे लिए कोई घटना अभद्र नहीं हो सकती। एपिक्युरस जैसी ही भावना जैनधर्म मे प्राप्त होती है। कविवर बनारसीदास जी ने कहाहै—

स्वारथ के साँचे परमारथ के साँचे चित्त।
साँचे साँचे बैन कहैं साँचे जैनमती हैं ॥
काहू के विरुद्ध नाहिं परजायबुद्धि नाहिं।
आतम गवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं ॥
ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट में प्रकट सदा।
अन्तर की लच्छी सौं अजाची लच्छपती हैं ॥
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौं।
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ॥

नाटक समयसार

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यूनान के दार्शनिकों की जो समस्यायें और अपूर्णतायें थीं, उनका समुचित समाधान जैनदर्शन मे प्राप्त होता है; क्योंकि जैनदर्शन का आधार सर्वज्ञ की वाणी है। उसका अनेकान्तवाद प्रत्येक ऐकान्तिक पहलू के सामने आने वाली कठिनाई को दूर करने में समर्थ है। इस प्रकार प्रत्येक दार्शनिक के परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है—

□□□

R. N. 10591/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थो की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २६-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापो के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३४ : कि० २-३ 　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　अप्रैल-सितम्बर १९८१

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

इस अंक में—

क्र०	विषय	पृ०
१.	अनेकान्त महिमा	१
२.	सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनायें—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	पर्युषण और दशलक्षण धर्म—श्री पद्मचन्द शास्त्री, नई दिल्ली	७
४.	जैन साहित्य मे विन्ध्य अचल—डा० विद्याधर जोहरापुरकर	१०
५.	जैनधर्म के पांच अणुव्रत—श्री विनोदकुमार तिवारी	१२
६.	बुन्देलखण्ड का जैन इतिहास (माध्यमिक काल)—अख्तर हुसैन निजामी	१५
७.	क्षमावणी—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२०
८.	जैन और बौद्ध प्रथमानुयोग—डा० विद्याधर जोहरापुरकर	२१
९.	अवग्रहेहावायधारणाः—डा० नन्दलाल जैन	२३
१०.	णमोकार मंत्र—श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली	२८
११.	मन्त्रदर्शन और जैनदर्शन—डा० रमेशचन्द जैन	३१
१२,	श्रावक और रत्नत्रय—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री	३३
१३.	कर्म सिद्धान्त की जीवन में उपयोगिता—श्रीमती पुखराज जैन	३६

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अनेकान्त प्रेमियों से :

अनेकान्त पत्र का जन्म वी० नि० सं० २४५६ के मार्गशीर्ष मास में हुआ और इसने पाठकों को शोध-सम्बन्धी विविध सामग्री दी और आचार एवं व्यवहार सम्बन्धी अनेकों आयामों को प्रस्तुत किया। स्वामी समन्तभद्र जैसे उद्भट अनेकों आचार्यों के साहित्य के मर्म को उजागर किया। फलतः यह सभी का स्नेहपात्र बना रहा। यद्यपि बीच के काल में इसे अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा—कभी आर्थिक संकट और कभी लेखकों की उदासीनता। तथापि इसने समाज को जैन साहित्य और तत्त्व-ज्ञान से परिचित कराने एवं जनता के आचार को ऊँचा उठाने के उद्देश्य के ख्याल से, अपने कार्य क्षेत्र को नहीं छोड़ा। इस सहयोग में जिन सम्पादकों, लेखकों और पाठकों आदि ने जो रुचि दिखाई उसके लिए हम उनके चिर-ऋणी रहेंगे।

'अनेकान्त' पत्र के उद्देश्यों में मुख्य है—'जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानात्मक लेखों का प्रकाशन व जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का सुदृढ़ प्रयत्न करना।' 'अनेकान्त' की नीति में सर्वथा एकान्तवाद को—निरपेक्षनयवाद को अथवा किसी सम्प्रदाय विशेष के अनुचित पक्षपात को स्थान नहीं होगा। इसकी नीति सदा उदार और भाषा-शिष्ट, सौम्य तथा गम्भीर रहेगी।' हमारा निवेदन है कि उदार लेखक अपने लेखों, पाठक अपनी अनेकान्त-पठन रुचि और उदारमना-दाता द्रव्य द्वारा पत्र की संभाल करते रहें—पत्र सभी का स्वागत करेगा।

वर्तमान में ग्राहक संख्या नगण्य है। यदि ग्राहक संख्या में वृद्धि हो जाय, और १०१) देकर पर्याप्त संख्या में आजीवन सदस्य बन जायँ तो इसकी चिन्ता सहज ही दूर हो जाय। इस महर्घता के समय में भी पत्र शुल्क केवल ६) वार्षिक ही है।

आशा है लेखकगण अपने लेख और ग्राहक व दाता अपने द्रव्य द्वारा सहायता करने में उद्यमी होंगे। धन्यवाद !

सुभाष जैन
महासचिव
वीर सेवा मन्दिर

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादन-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

ओम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण २-३ | वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण सवत् २५०७, वि० सं० २०३७ | अप्रैल-सितम्बर १९८१

अनेकान्त-महिमा

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।
तस्स भुवनेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥'

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध-सिन्धुरभिधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥'

भद्दंमिच्छादंसण समूह महियस्स अमयसारस्स ।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगमस्स ॥'

परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण ।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत् कल्याण ॥
'अनेकान्त' रवि किरण से, तम अज्ञान विनाश ।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म-प्रकाश ॥

अनन्त-धर्मा-तत्त्वों अथवा चैतन्य-परम-आत्मा को पृथक्-भिन्न-रूप दर्शाने वाली, अनेकान्तमयी मूर्ति—जिनवाणी, नित्य-त्रिकाल ही प्रकाश करती रहे—हमारी अन्तर्ज्योति को जागृत करती रहे ।

जिसके बिना लोक का व्यवहार सर्वथा ही नहीं बन सकता, उस भुवन के गुरु—असाधारणगुरु, अनेकान्तवाद को नमस्कार हो ।

जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिविधान रूप एकांत को दूर करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित, वस्तु-स्वभावों के विरोधो का मन्थन करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त के जीवनभूत, एक पक्ष रहित अनेकान्त—स्याद्वाद को नमस्कार करता हूं ।

मिथ्यादर्शन समूह का विनाश करने वाले, अमृतसार रूप; सुखपूर्वक समझ में आने वाले; भगवान जिन के (अनेकान्त गर्भित) बचन के भद्र (कल्याण) हों ।

□□□

सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनाएं

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन,

जैन परम्परा के मध्यकालीन धर्म कथा साहित्य में 'सम्यक्त्व कौमुदी' एक पर्याप्त लोकप्रिय रचना रही है। हमारे अपने सग्रह मे इस नाम की एक पुस्तक है जो हिन्दी जैनसाहित्य प्रसारक कार्यालय बबई द्वारा वी० नि० स० २४४१ अर्थात् २० अगस्त १९१५ ई० मे प्रकाशित हुई थी, पुस्तक के सम्पादक थे प० उदयलाल काशलीवाल और हिन्दी अनुवाद के कर्ता थे पं० तुलसीराम काव्यतीर्थ, जो संभवतया वही वाणीभूषण प० तुलसीराम थे जो बाद मे दि० जैन हाईस्कूल बडौत मे धर्माध्यापक रहे थे। पुस्तक मे सम्पादक का कोई वक्तव्य नही है और अनुवादक की जो डेढ पृष्ठीय प्रस्तावना है उसमे भी ग्रथ प्रतियों, कर्ता के नाम-स्थान-समयादि का कही कोई सकेत नही है। पुस्तक के प्रारम्भ के १४८ पृष्ठो मे सरल चालू भाषा मे प्रवाह पूर्ण अनुवाद है। तदनन्तर ११० पृष्ठो मे मूल संस्कृत रचना प्रकाशित है। इसी पुस्तक का पुनः प्रकाशन प० नाथूराम प्रेमी ने अपने जैन ग्रथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से सन् १९२८ मे किया था।[1] इस मूल संस्कृत 'सम्यक्त्व कौमुदी' मे प्रारम्भ के तीन मगल श्लोको को छोड़कर प्रायः शेष सम्पूर्ण भाग अति सरल सुबोध गद्य में रचित है। किन्तु पग-पग पर उक्तं च, तथाच, तथाचोक्तं, यथा आदि कहकर पूर्ववर्ती जैन-जैनेतर विविध साहित्य से प्रसंगोपयुक्त सुभाषित नीतिवचन, सूक्तियां आदि उद्धृत की गई है, जिनकी सख्या लगभग २७० है और जो रचना का कुछ कम प्रायः आधा भाग घेरे हुए है। इस प्रकार यह रचना पंचतंत्र, हितोपदेश आदि की शैली की एक उत्तम रोचक एव शिक्षाप्रद नीतिकथा बन गई है।

प्रथम मगल श्लोक के द्वितीयचरण 'वक्ष्येह कौमुदी नृणां सम्यक्त्वगुणहेतवे' और ग्रन्थात मे प्रयुक्त वाक्य 'इमा सम्यक्त्वकौमुदीकथा पुण्या भो भव्याः दृढतर सम्यक्त्व धार्यताम्' से स्पष्ट है कि विद्वान लेखक ने मनुष्यों को सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति हो अथवा इसे सुनकर भव्यजनों का सम्यक्त्व दृढतर हो, इस उद्देश्य से इस सम्कत्व कौमुदी अथवा सम्यक्त्व कौमुदी कथा का प्रणयन किया था। यतः यह सम्यक्त्वपोषक कथा शारदीय कौमुदी महोत्सव वाली रात्रि मे घटित घटनाओ का वर्णन करती है, इसलिए भी इसका सम्यक्त्वकौमुदी कथा नाम सार्थक है। रचना में कही कोई आद्य या अन्त्य प्रशस्ति, पुष्पिका अथवा सन्धि-वाक्य भी नही है और लेखक अपने नाम, स्थान, समय, परम्परा आदि की कही भी कोई सकेत सूचना नही करता है। वह यह भी कोई सकेत नही करता कि यह रचना किसी पूर्ववर्ती रचना पर आधारित या उससे प्रेरित है। पूरी रचना को पढ़ जाने से यही प्रतीत होता है कि यह इस नाम की प्रथम रचना है, और लेखक की मौलिक कृति है। लेखक अध्ययनशील, विचाररसिक, चयनपटु, धर्म मर्मज्ञ एव उदाराशय कवि व साहित्यकार है। किसी प्रकार के साम्प्रदायिक व्यामोह, पक्ष, आक्षेप आदि से भी वह दूर है, तथापि पूरी रचना से और विशेषकर मंगलाचरण एवं ग्रन्थ की उत्थानिका की पारम्परिक शैली से यह सर्वथा स्पष्ट है कि वह दिगम्बर आम्नाय का अनुयायी था।

सर्वप्रथम लेखक जिनदेव जगत्प्रभु श्री वर्द्धमान को, गौतम गणेश को, सर्वज्ञ के मुख से निकली मा भारती (सरस्वती या जिनवाणी) को और गुरुओं को, अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु को नमस्कार करके मनुष्यो को सम्यक्त्व गुण लाभ हो इस हेतु से प्रस्तुत कौमुदी का प्रणयन करने की प्रतिज्ञा करता है। तदनन्तर राजगृह नगर के विपुलाचल पर्वत पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री वर्द्धमान स्वामी के समवसरण के आगमन की सूचना बनमाली से प्राप्त कर महामण्डलेश्वर श्रेणिक परिजन-पुरजन सहित वहां जाता है, पूजा-स्तुति आदि करता है और अवसर पाकर गौतम-

स्वामी से सम्यक्त्वकौमुदी कथा सुनाने की प्रार्थना करता है। भगवान गौतम कहते हैं—मथुरा नगर मे उदितोदय नाम का राजा राज्य करता था: उसके मंत्री का नाम सुबुद्धि था। राजश्रेष्ठी अर्हद्दत्त बडा धर्मिक था और अपनी आठ पत्नियों के साथ सुख से रहता था। इसी नगर मे अंजनगुटिकासिद्ध चोर सुवर्णखुर भी रहता था। प्रतिवर्ष कार्तिकी पूर्णिमा के दिन राजा कौमुदी महोत्सव का आयोजन करता था, जिसमे नगर की समस्त स्त्रियां वनक्रीड़ा के लिए जाया करती थी और पूरा दिन व रात्रि वही व्यतीत करती थी, किन्तु पुरुषो को वहा जाने की आज्ञा नही थी—उन्हें नगर के भीतर ही रहना होता था। संयोग से यही दिन कार्तिकी अष्टान्हिका पर्व का अन्तिम दिन था और उस वर्ष सेठ ने सपत्नीक अठाई व्रत किया था। उसने राजा से विशेषाज्ञा लेकर अपनी पत्नियों को वनयात्रा से रोक लिया। दिन भर सबने नगर के जिनालयों मे दर्शन पूजन किया और अन्त मे अपने गृह-चैत्यालय मे रात्रि जागरण किया। आरात्रिक पूजन-भजन कीर्तन आदि मे आधी रात बीत गई तो सेठ-पत्नियों ने प्रस्ताव किया कि क्यो न हममे से प्रत्येक उसे जिस घटना या अनुभव के कारण धर्म मे श्रद्धा दृढ हुई है, वह सुनाए। प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ। और सर्वप्रथम सेठ से ही अपना अनुभव बताने के लिए अनुरोध किया गया।

इसी बीच स्वयं राजा का चित्त अकेले मे उचाट हो रहा था और स्वयं अपनी निषेधाज्ञा का उलंघन करके भी वह अपनी रानी के पास उद्यान मे जाने के लिए आतुर हो उठा। इस पर मंत्री ने उसे समझाया और उस अनुचित विकल्प से विरत रखने का प्रयत्न किया। उसने राजा को यमदंड कोतवाल की कहानी सुनाई जिसमें सात रोचक एवं शिक्षाप्रद अन्तर्कथाए कही। अन्ततः राजा ने अपना विचार छोड़ दिया और यह प्रस्ताव रखा कि नगर का ही भ्रमण किया जाय और देखा जाय कि अन्य लोग क्या कर रहे हैं। अतः राजा और मंत्री चल दिए। प्रायः उसी समय सुवर्णखुर चोर भी अपने चोरकर्म के लिए निकला था। संयोग से तीनो ही सेठ के चैत्यालय के पास पहुच गए जहां से भक्तिपूर्ण मधुर गीत-वाद्य नृत्यादि की स्वर-लहरी गूंज रही थी। चोर एक खिड़की के बाहर छुपकर बैठ गया और राजा एवं मंत्री ने एक अन्य खिड़की के बाहर आसन जमाया। उसी समय भीतर अपने संस्मरण सुनाने का निश्चय हुआ। सर्वप्रथम सेठ ने ही आप बीती सुनाई। उस कहानी के मुखपात्र वर्तमान सेठ का पिता जिनदास, राजा का पिता पदमोदय, मंत्री का पिता संभिन्न और चोर का पिता रूपखुर थे। वह सब घटना उन चारों की भी देखी-जानी थी। सेठ के पश्चात उसकी सात पत्नियों ने भी अपने-अपने अनुभवों की कहानियां क्रमशः सुनाईं। प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी कहानी के अन्त मे कहा, 'यह घटना मेरे प्रत्यक्ष अनुभव की है, इसने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया है और फलस्वरूप मेरी धर्म में रुचि-प्रतीति एवं श्रद्धा हुई है, मेरा सम्यक्त्व दृढ हुआ है। सब ही भीतरी और बाहरी श्रोताओं ने उसकी प्रशंसा व अनुमोदना की किन्तु सबसे छोटी सेठ-पत्नी कुन्दलता ने प्रत्येक बार यही कहा 'यह सब झूठ है, मैं इस पर विश्वास नही करती, अतः इसी के कारण मेरी धर्म में रुचि या प्रतीति भी नही होती है। उसके ऐसे उत्तरों की उसके पति तथा सपत्नियो पर तो विशेष प्रतिक्रिया नहीं होती थी, किन्तु तीनों बाहरी श्रोता, राजा मंत्री व चोर उसे उद्दण्ड एव दुष्टा समझते और उस पर कुपित होते।

इतने में सबेरा हो जाता है। सेठ का परिवार निर्विघ्न-सानन्द पर्वोत्सव के समापन से हर्षित है कि राजा व मंत्री पधारते है। अन्य अनेक व्यक्ति सेठ को बधाई देने आते हैं। भीड हो जाती है और उसमें वह चोर भी है। राजा ने रात्रि में कही गई कहानियों की चर्चा की और कुन्दलता की अजीब प्रतिक्रिया पर आश्चर्य व्यक्त किया तथा उसे दण्डित किए जाने का प्रस्ताव किया। सेठ ने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया कि स्वयं अभियुक्ता से ही उसकी वैसी प्रतिक्रिया का कारण पूछा जाय। कुन्दलता बुलाई गई और उससे उसके उक्त अनोखे व्यवहार का कारण पूछा गया। उस तेजस्वी नारी ने ससंभ्रम कहा 'राजन्, वह दुष्टा मैं ही हूं। इन सबने जो कुछ कहा है और जिनधर्म एवं उसके व्रतादि पर जो इनका निश्चय है उस पर मैं वास्तव मे न तो श्रद्धान ही करती हूं, न उसे चाहती हूं और न उसमे मेरी कोई रुचि है।' राजा ने साश्चर्य पूछा कि इसका क्या कारण है तो कुन्दलता ने

कहा, 'राजन्, ये सब तो जैनकुल में उत्पन्न हुए हैं, जिन-मार्ग को छोडकर अन्य कोई मार्ग इन्होने जाना ही नहीं है। मैं तो न स्वयं जैन हूं और न जैनकुल में उत्पन्न हुई हूं। तो भी जिनधर्म के व्रतों का प्रभाव सुनकर हृदय मे भारी वैराग्य उत्पन्न हो गया है और मैंने दृढ निश्चय कर लिया है कि मैं आज सवेरे ही जिनदीक्षा अवश्य ग्रहण कर लूंगी। मुझे तो यही आश्चर्य हे कि इन सबने जिनधर्म के व्रतों का माहात्म्य स्वयं देखा है और सुना है, फिर भी ये सब मूर्ख ही रहे। उपवासादि द्वारा शरीर को कृष तो करते हैं किन्तु संसार के विषय-भोगों के प्रति अपनी लम्पटता तनिक भी नही छोड़ते। मेरा तो सिद्धान्त है कि मनुष्य को गुणों को सम्पादन करने मे सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मिथ्या आडम्बर और दिखावे से क्या होना-जाना है! जो गाय दूध नही देती वह क्या गले मे घंटा बांध देने से बिक जाएगी ?'

कुन्दलता के इस ओजस्वी उद्बोधन को सुनकर सबकी आंखें खुल गयीं, सभी ने उसकी स्तुति-प्रशंसा-वन्दना की, इतना ही नहीं, सेठ, राजा, मंत्री और चोर ने तथा अन्य अनेक उपस्थित व्यक्तियो ने अपने अपने पुत्रादि को गृहस्थ का भार सौपकर कुन्दलता के साथ जिनदिक्षा ले ली। उसकी सपत्नियां, रानी, मत्री की पत्नी आदि अनेक नारियां आर्यिका बन गई। अनेक स्त्री-पुरुषों ने श्रावकों के व्रत ग्रहण किए, अन्य कितने ही कम से कम भद्रपरिणामी ही बने। अस्तु, इस सम्यक्त्वकौमुदी कथा का सार तत्व यही है कि धर्म व्रतानुष्ठानादि क्रियाकांडों में निहित नही है, वरन् स्वयं अपने जीवन मे उतारने की वस्तु है, धर्म करना नही, होना है।

ग्रन्थकर्ता—इस सम्यक्त्वकौमुदी या सम्यक्त्वकौमुदी-कथा की अनेक प्रतियां उत्तर भारत के जैन शास्त्र भडारों में सुरक्षित हैं। केवल राजस्थान के आमेर भंडार मे १३ प्रतियां हैं, जिनमें से ५ सम्यक्त्वकौमुदी नाम से और ८ सम्यक्त्वकौमुदीकथा नाम से दर्ज है, और वि० स० १७७६ से १८३८ के मध्य की लिखी हुई है।[2] इसी भंडार के प्रशस्ति सग्रह में तीन अन्य प्रतियों का उल्लेख प्रतीत होता है जिनमें से एक वि० स० १५६० की, दूसरी १५८२ की और तीसरी १६२५ की है जिसे कुंभलमेरु में खरतर-गच्छी गुणलाभ महोपाध्याय ने अपने पढ़ने के लिए लिखाया था।[3] स्वयं जयपुर के शास्त्र भंडारों मे १४ प्रतियां है जिनमे से एक तो (न० १३२०) गोपाचलदुर्ग अर्थात् ग्वालियर में राजा वीरमदेव तोमर के शासनकाल में मुनि धर्मचन्द्र के पठनार्थ वि० स० १४६०(सन् १४०३ ई०) की लिखित है।[4] अन्यत्र भंडारों मे भी इस ग्रंथ की प्रतियां पाए जाने की पूरी सम्भावना है। उपरोक्त समस्त प्रतियों के सम्बन्ध मे ग्रंथ की भाषा सस्कृत सूचित की है, आकार-प्रकार प्राय: सबका समान है, और रचयिता अज्ञात सूचित किया गया है। इन्ही सूचियो में सम्यक्त्व-कौमुदी नाम की अन्य रचनाओ की प्रतियों का भी उल्लेख है जिनमे उनके रचयिताओं का नाम भी सूचित है, तथा जो संस्कृत हिन्दी या हिन्दी पद्य आदि मे रचित हैं। अत-एव इसमें संदेह नही है कि जिस अज्ञात कर्तृक संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदी की प्रतियो का उल्लेख किया गया है वे सब उसी ग्रंथ की है जिसका वर्णन लेख के प्रारम्भ मे किया गया है और जो १६१५ ई० में बबई से प्रकाशित हुआ था। डा० राजकुमार साहित्याचार्य ने जिस सम्यक्त्व-कौमुदी की मदन पराजय नामक सस्कृत रूपक से तुलना की है, वह भी वही अज्ञात कर्तृक रचना है, इसमे कोई संदेह नहीं है।[5] उनके कथनानुसार प्रो० एल्ब्रेस्ट बेबर ने इसी सम्यक्त्वकौमुदी की सन् १४३३ ई० की एक प्रति का उल्लेख किया है।[6] इतना ही नही, उन्होंने तो मदन-पराजय का रचनाकाल भी सम्यक्त्वकौमुदी की बेबर वाली प्रति के आधार से ही निश्चित किया है।[7]

'जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' नाम से हमारे द्वारा संकलित पुरानी हस्तलिखित सूची के अनुसार प्रस्तुत सम्यक्त्वकौमुदी के कर्ता जिनदेव नामक दिगम्बर विद्वान हैं जो १४वी शती ई० मे हुए है। और जिनकी मयण-पराजय (मदन पराजय) तथा उपासकाध्ययन नामक दो अन्य संस्कृत कृतियां ज्ञात हैं। डा० राजकुमार जी द्वारा सपादित मदन पराजय की पूर्वोक्त प्रस्तावना से, जो पुस्तक के प्रथम सस्करण के समय १६४८ ई० में लिखी गई थीं, अब इस विषय मे कोई संदेह नही है कि उक्त मदन परा-जय के कर्ता जिनदेव अपरनाम नागदेव ही, जो वैद्यराज मल्लुगी के पुत्र थे तथा किन्हीं ठक्कुर माइन्द द्वारा स्तुत

एवं प्रशंसित थे, प्रस्तुत सम्यक्त्वकौमुदी के कर्ता है।[८] सम्यक्त्व कौमुदी में लेखक ने अपना कोई परिचय नही दिया सिवाय इसके लिए प्रथम मंगल श्लोक की प्रथम पंक्ति 'श्री वर्द्धमानमानम्य जिनदेव जगत्प्रभुम्' मे प्रयुक्त 'जिनदेव' शब्द से उनके नाम का भी सूचन हो। किन्तु मदनपराजय मे उन्होने अपना जो वंश परिचय दिया है, उससे विदित होता है कि वह सोमवंश मे उत्पन्न हुए थे। उनके पूर्वज चङ्गदेव एक यशस्वी दानी थे, जिनके पांच पुत्र थे—इनमे से तीसरे पुत्र कविवर हरिदेव थे जो अपभ्रंश मयणपराजयचरिउ के रचयिता थे। हरिदेव के पुत्र वैद्यराज नागदेव थे, जिनके दोनो पुत्र हेम और राम भी प्रसिद्ध वैद्य थे। राम के पुत्र दानी प्रियंकर थे, जिनके वैद्यराज मल्लुगि थे। इन मल्लुगि के पुत्र संस्कृत मदनपराजय के कर्ता नागदेव थे।[९] बहुत सभव है कि अपनेएक निकट पूर्वज का नाम भी नागदेव रहा होने से ग्रन्थकार ने अपना अपर नाम या उपनाम 'जिनदेव' अपना लिया हो—मदनपराजय की आद्य प्रशस्ति मे तो नागदेव नाम है किन्तु पांचो परिच्छेदो के पुष्पिका वाक्यो मे जिनदेव नाम दिया है। प्राप्त सूचनाओ से विदित है कि कवि एक सदगृहस्थ था और एक सम्पन्न धार्मिक वैद्य व्यवसायी एव विद्या रसिक वश मे उत्पन्न हुआ था, जो मूलतः सोम (चन्द्र) वंशी राजपूतों का था। लेखक के स्थान की कोई सूचना नही है किन्तु लगता है कि वह उत्तर भारतीय था और मध्य भारत विशेषकर ग्वालियर के आसपास के किसी स्थान का निवासी था। सम्यक्त्वकौमदी की प्राचीनतम उपलब्ध प्रति (१४०३ ई० की) ग्वालियर मे ही लिखी गई थी और कुछ ही दशक पश्चात ग्वालियर के ही अपभ्रंश भाषा के महाकवि रईधू ने उसका अपभ्रंश भाषा मे रूपान्तर किया था। यतः सम्यक्त्वकौमुदी मे उद्धृत सूक्तियां आदि जिन लेखको की है, उनमे प० आशाधर (ल० १२००-५० ई०) प्रायः सबसे पीछे के है और यदि जिस सूक्तिमुक्तावली के भी उद्धरण है वह श्रुतमुनि (ल० १३०० ई०) कृत ही हों तो सम्यक्त्वकौमुदी के रचनाकाल की पूर्वावधि १३०० ई० और उत्तरावधि १४०० ई० निश्चित होती है। अतएव जिनदेव अपर नाम नागदेव ने इस संस्कृत सम्यक्त्वकौमुदी की रचना १३५० ई० के लगभग की प्रतीत होती है। लगता है कि मदनपराजय शायद प्रारम्भ की रचना है और सम्यक्त्वकौमुदी लेखक के अन्तिम वर्षों की है। उपासकाध्ययन नाम की श्रावकाचार विषयक कृति यदि है तो शायद किसी भंडार में दबी पड़ी हो, उसमें भी नीति-सूक्तों के उद्धरणों का बाहुल्य होगा। जिनदेव की सम्यक्त्वकौमुदी दिगम्बर परम्परा में तो स्वभावतः प्रचलित रही है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे भी लोकप्रिय रही प्रतीत होती है, जैसा कि उसकी सं० १५६० व स० १६२५ की पूर्वोक्त प्रतियों से प्रगट है। उसकी लोकप्रियता का एक साक्ष्य यह भी है कि इस नाम की अनेक रचनायें परवर्तीकाल मे विभिन्न भाषाओ मे लिखी गई जिनमे से कई श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा भी रचित है।

अन्यकर्तृक सम्यक्त्वकौमुदी कथाएं

दिगम्बर :—संस्कृत, मुनिधर्मकीर्तीकृत, प्राप्त लिपि १५४६ ई० की है। संभवतया यह वही मुनि धर्मकीर्ति (१४४२-६६ ई०) है जो सागवाड़ा बड़साजनपट्ट के *सकलकीर्ति के शिष्य तथा विमलेन्द्रकीर्ति के* गुरु थे और तत्वरत्नप्रदीप नामक ग्रंथ के रचयिता थे।

२. सस्कृत, मंगरस या मंगिरस, प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार, सं० कौ० की० रचना तिथि एक १४३०-१५०८ई०

३. संस्कृत, खेता पडित, लगभग १७०० ई०

४. कन्नड़, पायण्ण वर्णी, १६०० ई०

५. अपभ्रंश, महाकवि रइधू (१४२३-५८ ई०)

६. हिन्दी-गुज० रत्नमति आर्यिका (ल० १५५० ई०) जो सूरत के भट्टारक ज्ञानभूषण की शिष्या थी। रचना का नाम 'समकितरास' (८ कथायें) दिया है।

७. हिन्दीपद्य, कवि कालिदास एव जगतराय, १६६५ ई० अलग-अलग थी उल्लेख है, किन्तु संभवतया संयुक्त रचना है।

८. हिन्दी पद्य, जोधराज गोदीका, १६६७

९. हिन्दी पद्य, कवि विनोदीलाल, १६९२ ई०

१०. हिन्दी पद्य, लालचन्द्र सांगानेरो, १७६१-८५ ई०

११. हिन्दी, लालचन्द्र विनोदीलाल, १८२२ ई०

श्वेताम्बर—१. संस्कृत, अचलगच्छी जयशेखर सूरि, रचनाकाल 'हयेषुलोक संख्येब्दे' शब्दों मे सूचित है जिसका अर्थ स० १४५७ किया गया है, लिपि स० १५६५ की है।[१०] यदि रचनाकाल का उपरोक्त अर्थ ठीक है तो यह रचना १४०० ई० की है।

२. संस्कृत, जयचन्द्र सूरि के शिष्य, रचना काल सं० १४६२-१४०५ ई०, प्रतिलिपि सवत नही है, किन्तु अन्त में लिखा है—इति धर्मकीर्ति मुनि विरचिता सम्यक्त्व-कौमुदी कथा सम्पूर्ण।[११] इस लेख से संदेह होता है कि मुद्रण आदि मे नामो की गड़बड़ तो नही हुई है? यदि उल्लिखित जयचन्द्र सूरि वही है जो सोमसुन्दर के शिष्य थे और जिन्होने १४४६ ई० मे अपना प्रत्यख्यान विरमण रचा था तो उनके शिष्य द्वारा उपरोक्त ग्रंथ का रचनाकाल १४०५ ई० नही हो सकता।

३. संस्कृत, गुणाकर सूरि, रचनाकाल १४०७ ई०।[१२] प्रतिलिपि १४६० ई० की है। आमेर भंडार मे भी इस ग्रंथ की प्रतियां हैं।

४. संस्कृत, सोमदेव सूरि, १५१६ ई०।

इस प्रकार कुल १८ रचनायें हमें ज्ञात हो सकी हैं, जिनमें से ८ संस्कृत, १ कन्नड़, १ अपभ्रंश और ६ हिन्दी में रचित है। इनमे से १२ दिगम्बर विद्वानों द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा रचित है। चारों ज्ञात श्वे० रचनायें संस्कृत में हैं। संभव है अन्य भी कई रचनायें हों जो हमारी जानकारी में अभी नहीं आई है। इस सबसे जिनदेव (नागदेव) की सम्यक्त्वकौमुदीकथा की लोकप्रियता एवं महत्व स्पष्ट हैं। उनके विशद समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है जिससे उस पर पूर्ववर्ती साहित्यकारों का प्रभाव तथा स्वयं उसका अपने परवर्ती साहित्यकारों पर प्रभाव प्रकाश मे आ सके। उपरोक्त श्वे० रचनाओं को हमने देखा नही है अतएव यह भी नही कहा जा सकता कि उन्होने जिनदेव की रचना से ही प्रेरणा ली है अथवा उसे ही अपना आधार बनाया या कि उनका आधार एवं प्रेरणास्रोत उससे सर्वथा स्वतन्त्र या भिन्न है।

सन्दर्भ—

१. देखिए ज्योतिप्रसाद जैन, प्रकाशित जैन साहित्य (जैन मित्र मण्डल दिल्ली १९५८), पृ० २३९।

२. आमेर शास्त्र भंडार जयपुर की ग्रन्थ सूची (जयपुर १९४८ ई०), पृ० १३२-१३३।

३. डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, प्रशस्ति सग्रह (जयपुर १९५०), पृ० ६३-६४।
—स० १५८० की प्रति भी एक श्वेताम्बर मुनि के लिए लिखी गई है।

४. राजस्थान के जैन शास्त्र भडारों की ग्रन्थ सूची, द्वितीय भाग, पृ० २४१-२४२।

५. मदनपराजय, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वि० स० १९६४, प्रस्तावना पृ० १७-१८. ४२, ५७-५८।

६. वही, पृ० १८, तथा वेबर-ए हिस्टरी आफ इण्डियन कल्चर, भा० २, पृ० ५४१ फुटनोट।

७. वही, पृ० ५८, किन्तु ऐसा लगता है कि भूल से वि० स० की १५वी शती के बजाय १४वी शती लिख गए हैं।

८. वही, पृ० ५७।

९. वही, आद्य प्रशस्ति, पृ० १-२; तथा डा० हीरालाल जैन, मयणपराजयचरिउ, भारतीय ज्ञानपीठ १९६२, प्रस्तावना पृ० ६०-६२, जबकि राजकुमार जी ने 'रामकुल' पाठ दिया है, डा० हीरालालजी ने 'सोमकुल' पाठ दिया है, उसका औचित्य भी सिद्ध किया है—वही ठीक प्रतीत होता है।

१०. देखिए, मुनि पुण्यविजय जी के संग्रह की ग्रन्थ सूची (अहमदाबाद १९६३), भाग १, पृ० १३१, न० २५५७

११. वही, पृ० १३१-१३२, न० २५५९।

१२. वही, पृ० १३१, न० २५५४; तथा भाग २, पृ० २२३-२२४, न० ३८३३।

—ज्योति निकुंज
चारबाग, लखनऊ-१

पर्युषण और दशलक्षण धर्म

☐ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

जैनों के सभी सम्प्रदायों में पर्युषण पर्व की विशेष महत्ता है। इस पर्व को सभी अपने-अपने ढंग से सोत्साह मनाते हैं। व्यवहारतः दिगम्बर श्रावकों मे यह दश दिन और श्वेताम्बरों में आठ दिन मनाया जाता है। क्षमा आदि दश अंगों में धर्म का वर्णन करने से दिगम्बर इसे 'दशलक्षण धर्म' और श्वेताम्बर आठ दिन का मनाने से अष्टाह्निका (अठाई) कहते हैं।

पर्युषण के अर्थ का विशेष खुलासा करते हुए अभिधान राजेन्द्र कोष में कहा है—

"परीति सर्वत क्रोधादिभावेभ्य उपशम्यते यस्यां सा पर्युपशमना" अथवा "परि: सर्वथा एकक्षेत्रे जघन्यतः सप्तदिनानि उत्कृष्टतः षण्मासान् (?) वसनं निरुक्तादेव पर्युषणा।" अथवा परिसामस्त्येन उषणा।"—अभि० रा० भा० ५ पृ० २३५-२३६।

जिसमें क्रोधादि भावों को सर्वतः उपशमन किया जाता है अथवा जिसमें जघन्य रूप से ७० दिन और उत्कृष्ट रूप से छह मास (?) एक क्षेत्र मे किया जाता है, उसे पर्युषण कहा जाता है। अथवा पूर्ण रूप से वास करने का नाम पयूषण है।

पज्जोसवण, परिवसणा, पजुसणा, वासावासो य (नि० चू० १०) ये सवशब्द एकार्थवाची हैं।

पर्युषण (पर्युपशमन) के व्युत्पत्तिपरक दो अर्थ निकलते है—(१) जिसमे क्रोधादि भावो का सर्वतः उपशमन किया जाय अथवा (२) जिसमे जघन्य रूप मे ७० दिन और उत्कृष्ट रूप में चार मास पर्यन्त एक स्थान मे वास किया जाय। (ऊपर के उद्धरण में जो छह मास का उल्लेख है वह विचारणीय है।)

प्रथम अर्थ का सबध अभेदरूप से मुनि, श्रावक सभी पर लागू होता है। कोई भी कभी भी क्रोधादि के उपशमन (पर्यूषण) को कर सकता है। पर, द्वितीय अर्थ मे साधु की अपेक्षा ही मुख्य है, उसे चतुर्मास करना ही चाहिए। यदि कोई श्रावक चार मास की लम्बी अवधि तक एकत्र वास कर धर्म साधन करना चाहे तो उसके लिए भी रोक नहीं। पर, उसे चतुर्मास अनिवार्य नही है। अनिवार्यतः का अभाव होने के कारण ही श्रावकों में दिगम्बर दश और श्वेताम्बर आठ दिन की मर्यादित अवधि तक इसे मानते है और ऐसी ही परम्परा है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्परायें ऐसा मानती है कि उत्कृष्ट पर्यूषण चार मास का होता है। इसी हेतु इसे चतुर्मास नाम से कहा जाता है। दोनो ही सम्प्रदाय के साधु चार मास एक स्थान पर ही वास करते हुए तपस्याओ को करते है। यतः उन दिनों (वर्षा ऋतु) में जीवोत्पत्ति विशेष होती है। और हिंसादि दोष होने की अधिक सम्भावना रहती है और साधु को हिंसादि पाप सर्वथा वर्ज्य है।—उसे महाव्रती कहा गया है।

"पज्जुसवणा कप्पका वर्णन दोनों सम्प्रदायों मे है। दिगम्बरों के भगवती आराधना (मूलाराधना) में लिखा है :—

"पज्जोसमणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य
चतुर्षुमासेषु एकत्रावस्थानं भ्रमण त्यागः।
विंशत्यधिक दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः
कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वाऽवस्थानम्।

पज्जोसवण नामक दसवा कल्प है। वर्षाकाल के चार मासो मे एकत्र ठहरना—अन्यत्र भ्रमण का त्याग करना, एक सौ बीस दिन एक स्थान पर ठहरना उत्सर्ग मार्ग है। कारण विशेष होने पर हीन वा अधिक दिन भी हो सकते है। भगवती आरा० (मूला रा०) आश्वास ४ पृ० ६१६।

श्वेताम्बरो मे 'पर्यूषणाकल्प' के प्रसंग मे जीतकल्प सूत्र मे लिखा है—

'चाउम्मासुक्कोसे, सत्तरि राइंदिया जहण्णेणं।
ठितमट्ठितमेगतरे, कारणे वच्चासितऽण्णयरे॥—
—जीत क० २०६५ पृ० १७६

विवरण—'उत्कर्षतः पर्युषणाकल्पश्चतुर्मासं यावद् भवति, आषाढ़ पूर्णिमायाः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः। जघन्यतः पुनः सप्ततिरात्रिंदिनानि, भाद्रपदशुक्लपञ्चम्याः कार्तिकपूर्णिमां यावदित्यर्थः—अशिवादौ कारणे समुत्पन्ने एकतरस्मिन् मासकल्पे पर्युषणाकल्पे वा व्यत्यासितं विपर्यस्तमपि कुर्युः।'

—अभि० रा० भाग०-५ पृ० २५४

पर्यूषण कल्प के समय की उत्कृष्ट मर्यादा चतुर्मास १२० दिन रात्रि) है। जघन्य मर्यादा भाद्रपदशुक्ला पंचमी से प्रारम्भ कर कार्तिक पूर्णिमा तक (सत्तर दिन) की है।—कारण विशेष होने पर विपर्यास भी हो सकता है—ऐसा उक्त कथन का भाव है।

इस प्रकार जैनों के सभी सम्प्रदायों मे पर्व के विषय में अर्थ भेद नहीं है और ना ही समय की उत्कृष्ट मर्यादा मे ही भेद है। यदि भेद है तो इतना ही है कि '(१) दिगम्बर श्रावक इस पर्व को धर्मपरक १० भेदों (उत्तम-क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य संयम-तपस्त्याग, त्याग अकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्म) की अपेक्षा मनाते है और प्रत्येक दिन एक धर्म का व्याख्यान करते है। जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रावक इसे आठ दिन मनाते है। वहां इन दिनों मे कही कल्पसूत्र की वाचना होती है और कही अन्तः कृत सूत्रकृतांग की वाचना होती है। और पर्व को दिन की गणना आठ होने से 'अष्ट'—आन्हिक (अष्टान्हिक-अठाई) कहते है। साधुओं का पयूषण तो चार मास ही है।

दिगम्बरो मे उक्त पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी से प्रारम्भ होता है और श्वेताम्बरो मे पंचमी को पूर्ण होता है। दोनो सम्प्रदायो मे दिनो का इतना अन्तर क्यो? ये शोध का विषय है। और यह प्रश्न कई बार उठा भी है। समझ वाले लोगों ने पारस्परिक सौहार्द वृद्धि हेतु ऐसे प्रयत्न भी किए है कि पयूषण मनाने की तिथियां दोनो मे एक ही हों। पर, वे असफल रहे है।

पर्युषण के प्रसग मे और सामान्यतः भी, जब हम तप प्रोषध आदि के लिए विशिष्ट रूप से निश्चित तिथियो पर विचार करते है तब हमे विशेष निर्देश मिलता है कि—

"एव पर्वसु सर्वेसु चतुर्मास्या च हायने।
जन्मन्यपि यथाशक्ति स्व-स्व सत्कर्मणा कृति॥"

—धर्म सं० ६६ पृ० २३८

—वर्ष के चतुर्मास के सर्व पर्वों में और जीवन में भी यथा शक्ति स्व-स्व धार्मिक कृत्य करने चाहिए। (यह विशेषतः गृहस्थ धर्म है)। इसी श्लोक की व्याख्या में पर्वों के सबंध मे कहा गया है कि—

"तत्र पर्वाणि चैवमूचुः—
'अट्ठम्मि चउद्दसि पुण्णिमा य तहा मावसा हवइ पव्वं
मासंमि पव्व छक्कं, तिन्नि अ पव्वाई पक्खंमि॥'

'चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ पुण्णमासी त्ति सूत्रप्रामाण्यात्, महानिशीथेतु ज्ञान पंचम्यपि पर्वत्वेन विश्रुता। 'अट्ठमी चउद्दसीसुं नाण पंचमीसु उववासं न करेइ पच्छित्तमित्यादिवचनात्।—एषु पर्वसु कृत्यानि यथा—पौषधकरणं प्रति पर्व तत्करणाशक्तौ तु अष्टम्यादिषु नियमेन। यदागमः,

'सव्वेसु कालपव्वेसु, पसत्थो जिणमए हवइ जोगो।
अट्ठमि चउद्दसीसु अ नियमेण हवइ पोसहिओ॥'

—धर्म स० (व्याख्या) ६६

—पर्व इस प्रकार कहे गये है—अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा तथा अमावस्या, ये मास के ६ पर्व है और पक्ष के ३ पर्व है। इसमे 'चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णिमासु' यह सूत्र प्रमाण है। महानिशीथ मे ज्ञान पचमी को भी पर्व प्रसिद्ध किया है। अष्टमी, चतुर्दशी और ज्ञान पंचमी को उपवास न करने पर प्रायश्चित का विधान है।···इन पर्वों के कृत्यों मे प्रोषध करना चाहिए। यदि प्रति पर्व मे उपवास की शक्ति न हो तो अष्टमी, चतुर्दशी को नियम से करना चाहिए। आगम मे भी कहा है—'जिनमत मे सर्व निश्चित पर्वों में योग को प्रशस्त कहा है और अष्टमी, चतुर्दशी के प्रोषध को नियमतः करना बतलाया है।

उक्त प्रसंग के अनुसार जब हम दिगम्बरो में देखते है तब ज्ञान होता है कि उनके पर्व पचमी से प्रारम्भ होकर (रत्नत्रय सहित) मासान्त तक चलते है, और उनमे आगमविहित उक्त सर्व (पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा) पर्व आ जाते है।, जब कि श्वेताम्बरों मे प्रचलित पर्व दिनों में अष्टमी का दिन छूट जाता है—उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बिना पूर्ति हुए आगम की आज्ञा 'नियमेण हवइ पोसहिओ' का उल्लंघन ही होता है। वैसे भी इसमे किसी को आपत्ति नही होनी चाहिए कि पर्युषण काल मे अधिक से अधिक प्रोषध की तिथियों का समावेश

रहे। यह समावेश और जैनियो के विभिन्न पन्थों की पूर्व तिथियों मे एक रूपता भी, तभी सभव हो सकती है जब पर्व भाद्रपद शुक्ला पचमी से ही प्रारम्भ माने जाय।

कल्पसूत्र के पर्यूषण समाचारी मे लिखा है—'समणे भगव महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वइक्कते वासावासं पज्जोसेवइ।' इस 'पज्जोसेवइ' पद का अर्थ अभिधान राजेन्द्र पृ० २३६ भा० ५ मे 'पर्यूषणामाकार्षीत्' किया है। अर्थात् 'पर्यूषण' करते थे। और दूसरी ओर कल्पसूत्र नवम क्षण मे श्री विजयगणि ने इस पद की टीका करते हुए इसकी पुष्टि की है (देखे पृष्ठ २६८)—

'तेनार्थेन तेन कारणेन हे शिष्याः? एवमुच्यते, वर्षाणा विंशति रात्रियुक्ते मासे अतिक्रान्ते पर्युषणमकार्षीत्।' दूसरी ओर पर्यूषणाकल्प चूर्णि मे 'अन्नया पज्जोसवणादिवसे आगए अज्जकालगेण सालिवाहणं भणिओ भद्दवजुण्हपचमीए पज्जोसवणं' —(पज्जोसविज्जइ) उल्लेख भी है। —अभि० पृ० २३८

उक्त उद्धरणो मे स्पष्ट है कि भ० महावीर पर्यूषण करते थे और वह दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी था। इस प्रकार पचमी का दिन निश्चित होने पर भी 'पंचमीए' पद की विभक्ति मे सन्देह की गुजाइश रह जाती है कि पर्यूषणा पंचमी मे होती थी, अथवा पंचमी से होती थी। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'पचमीए' रूप तीसरी पंचमी और सातवी तीनो ही विभक्ति का हो सकता है।

यदि ऐसा माना जाय कि केवल पंचमी मे ही पर्यूषण है तो पर्यूषण को ७–८ या कम-अधिक दिन मनाने का कोई अर्थ ही नही रह जाता, और ना ही अष्टमी के प्रोषध की अनिवार्यता सिद्ध होती है जबकि अष्टमी को नियम से प्रोषध होना चाहिए। हाँ, पंचमी से पर्यूषण हो तो आगे के दिनो मे आठ या दस दिनो की गणना को पूरा किया जा सकता है और अष्टमी को प्रोषध भी किया जा सकता है। सभवतः इसीलिए कोषकार ने 'भाद्रपद शुक्ल पचम्या अनन्तर' पृ० २५३ और 'भाद्रपद शुक्ल पंचम्या कार्तिक पूर्णिमां यावदित्यर्थः'—पृ० २५४ मे लिख दिया है। यहाँ पचमी विभक्ति की स्वीकृति से स्पष्ट होता है कि 'पंचमीए' का अर्थ 'पंचमी से' होना चाहिए। इस अर्थ की स्वीकृति से अष्टमी के प्रोषध के नियम की पूर्ति भी हो जाती है। क्योंकि पर्व में अष्टमी के दिन का समावेश इसी रीति में शक्य है। 'अनन्तर' से तो सन्देह को स्थान ही नही रह जाता कि पचमी से पर्यूषण शुरू होता है और पर्यूषण के जघन्यकाल ७० दिन की पूर्ति भी इसी भाँति होती है।

दिगम्बर जैनो मे कार्तिक फाल्गुन और आषाढ़ मे अन्त के आठ दिनों में (अष्टमी से पूर्णिमा) अष्टाह्निका पर्व माने है ऐसी मान्यता है कि देवगण नन्दीश्वर द्वीप में इन दिनों अकृत्रिम जिन मन्दिरो बिम्बों के दर्शन-पूजन को जाते है। देवों के नन्दीश्वर द्वीप जाने की मान्यता श्वेताम्बरो मे भी है। श्वेताम्बरो की अष्टाह्निका की पर्व तिथियां चैत्र सुदी ८ से १५ तक तथा आसोज सुदी ८ १५ तक है। तीसरी तिथि जो (संभवतः) भाद्र वदी १३ से सुदी ५ तक प्रचलित है, होगी। यह तीसरी तिथि सुदी ८ से प्रारम्भ क्यो नही? यह विचारणीय ही है—जब कि दो बार की तिथिया अष्टमी से शुरू है।

हो सकता है—तीर्थंकर महावीर के द्वारा वर्षा ऋतु के ५० दिन बाद पर्यूषण मनाने से ही यह तिथि परिवर्तन हुआ हो। पर यदि ५० दिन के भीतर किसी भी दिन शुरू करने की बात है[1] तब इस अष्टाह्निका को पंचमी के पूर्व से शुरू न कर, पचमी से ही शुरू करना युक्ति सगत है। ऐसा करने से 'सवीसराए मासे वइक्कते (बीतने पर)' की बात भी रह जाती है और 'सत्तरिराइदिया जहण्णेणं' की बात भी रह जाती है। साथ ही पर्व की तिथियां (पचमी, अष्टमी, चतुर्दशी) भी अष्टाह्निका में समाविष्ट रह जाती है जो कि प्रोषध के लिए अनिवार्य है।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि जैनो में पर्व सम्बन्धी तिथि काल का निश्चय सूर्योदय काल से ही करना आगम सम्मत है। जो लोग इसके विपरीत अन्य कोई प्रक्रिया अपनाते हो उन्हे भी आगम के वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—

(शेष पृष्ठ १० पर)

१. मुनियो का वर्षावास चतुर्मास लगन स लकर ५० दिन बीतने तक कभी भी प्रारम्भ हो सकता है अर्थात् आषाढ़ शुक्ला १४ से लेकर भाद्रपद शुक्ल ५ तक किसी भी दिन शुरू हो सकता है।'—जैन-आचार (मेहता) पृ० १८७

जैन साहित्य में विन्ध्य अंचल

☐ डा० विद्याधर जोहरापुरकर

जैन साहित्य मे विन्ध्य क्षेत्र के वर्णनो को तीन प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—१ तीर्थभूमि के रूप मे २. कथाभूमि के रूप मे ३. उपमान के रूप मे। इनका विवरण इस प्रकार है :—

तीर्थभूमि के रूप में

पांचवी या छठी शताब्दी मे आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित निर्वाणभक्ति मे पुण्यपुरुषों के निवास या निर्वाण के कारण पवित्र हुए स्थानों की नामावली है जिसमे विन्ध्य का भी समावेश है।[१] यद्यपि विन्ध्य क्षेत्र का कौन-विशिष्ट स्थान उनकी दृष्टि मे था यह स्पष्ट नही है।

बारहवी या तेरहवी शताब्दी में आचार्य मदनकीर्ति द्वारा रचित शासनचतुस्त्रिंशिका में भी तीर्थभूमि के रूप में विन्ध्य की प्रशंसा मे एक श्लोक मिलता है।[२] इसमे भी किसी विशिष्ट स्थान का संकेत नही है।

विन्ध्य क्षेत्र मे विशिष्ट स्थान का सर्वप्रथम वर्णन आचार्य रविषेण द्वारा सन् ६७७ मे रचित पद्मचरित मे मिलता है। इसमे कथन मे[३] कि इन्द्रजीत् के साथ मेघनाथ तपस्या करते हुए विन्ध्य अरण्य मे जहा रहे वह स्थान मेघरव तीर्थ कहलाया।

निर्वाणकाण्ड मे कुम्भकर्ण और इन्द्रजीत का निर्वाण-स्थान बडवानी के समीप चूलगिरि बताया है[४] जो विन्ध्य-क्षेत्र मे ही है। निर्वाणकाण्ड की कुछ प्रतियो मे रविषेण के वर्णन का अनुवाद करने वाली एक गाथा मिलती है।[५] सत्रहवी शताब्दी मे रचित निर्वाणकाण्ड के हिन्दी अनुवाद में इस गाथा का समावेश नही है परन्तु उसी समय के मराठी अनुवाद मे उसका समावेश है।[६] बडवानी के विषय में हम एक लेख अनेकान्त मे लिख चुके है अत: यहां उससे सम्बन्धित अन्य उल्लेखों की चर्चा नही की गई है।

विन्ध्य क्षेत्र के दूसरे विशिष्ट स्थान का उल्लेख कृष्ण-कथा से सम्बन्ध रखता है। आचार्य हरिषेण द्वारा सन्-९६२ मे रचित बृहत् कथाकोष की कथा १०६ में बताया गया है कि नन्दगोप की जो कन्या कृष्ण के स्थान पर कंस को बतायी गई थी वह आगे चलकर तपस्या करती हुई विन्ध्य क्षेत्र मे रही और वहां के दस्यु उसकी पूजा करने लगे।[७] आचार्य श्रीचन्द्र द्वारा सन् १०६६ के लगभग रचित कथाकोष में भी उपर्युक्त कथा है और उपर्युक्त देवी की उपासना विन्ध्यवासिनी दुर्गा के नाम से होने का कथन है।[८] विन्ध्यवासिनी देवी का मन्दिर वर्तमान समय मे भी प्रसिद्ध तीर्थ है। कथाकोषो से पूर्व हरिवंशपुराण और उत्तरपुराण मे भी यही कथा मिलती है।

जिनप्रभसूरि द्वारा सन् १३३२ मे रचित विविध तीर्थकल्प मे श्रेयास और मुनिसुव्रत तीर्थंकरो के मन्दिर विन्ध्यक्षेत्र मे होने का कथन मिलता है परन्तु स्थान नाम नही बताये है।[९]

कथाभूमि के रूप में

आचार्य जिनसेन द्वारा नौवी शताब्दी के मध्य मे रचित महापुराण मे भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय वर्णन मे

(पृ० ९ का शेषांश)

'चाउम्मास अवरिसे, पक्खि अ पचमीट्ठमीसु नायव्वा।
ताओ तिहीओ जासि, उदेइ सूरो न अण्णाउ ॥१॥
पूआ पच्चक्खाण पडिकमण तइय निअम गहणं च।
जीए उदेइ सूरो तीइ तिहीए उ कायव्वं ॥२॥'
धर्म स० पृ० २३९

वर्ष के चतुर्मास मे चतुर्दशी पचमी और अष्टमी को उन्ही दिनो मे जानना चाहिए जिनमे सूर्योदय हो, अन्य प्रकार नही। पूजा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और नियम निर्धारण उसी तिथि मे करना चाहिए जिस तिथि में सूर्योदय हो। कृपया विद्वान विचार दें।

—वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज,
नई दिल्ली-२

☐ ☐

तीस श्लोकों में विन्ध्य क्षेत्र का वर्णन मिलता है।[10] आचार्य कहते हैं कि यह पर्वतराज ऊंचा है, इसके वंश (—बांस) विस्तीर्ण है और इसे लांघना कठिन है। इसके शिखरों से बहते हुए झरने विमानों की पताकाओं जैसे दिखते है। यह पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला है। अनेक नदियाँ इसकी वधूयें है। बांस और हाथियों के मस्तकों से निकले मोती इसमें बिखरते है। अनेक रंगों की धातुयें यहा मिलती हैं। जब दावानल भडकता है तो इसके शिखर मानो सुवर्णवेष्टित दिखते है। इसमें बड़े-बड़े हाथी और भुजंग रहते है। किरात लोग उपहार के रूप मे गजदन्त राजा को अर्पित करते है। इसके बीचोबीच नर्मदा नदी भूमिरूपी महिला की वेणी के समान दिखती है।

नौवी शताब्दी मे ही आचार्य शीलांक द्वारा रचित चउपन्नमहापुरिसचरिय मे मेघकुमार के पूर्वभव वर्णन मे बताया गया है कि विकट शिखरो से भरे, ऊचे वृक्षों से व्याप्त, हजारो श्वापदो से परिपूर्ण विन्ध्य अरण्य मे वह पांच सौ हाथियो के झुंड का स्वामी था।[11]

कुछ सन्दर्भों में विन्ध्य का नाममात्र उल्लिखित है—वर्णन नहीं है। सन् ७८३ मे पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन द्वारा रचित हरिवंशपुराण मे कथन है कि विन्ध्यक्षेत्र मे राजा अभिचन्द्र ने चेदिराष्ट्र मे शुक्तिमती नगर की स्थापना की।[12] बृहत्कथाकोष (जिसका एक सन्दर्भ ऊपर आ चुका है) की कथा ११८ मे कथन है कि श्री कृष्ण की मृत्यु का कारण मैं बनूगा यह सुनकर जरत्कुमार ने द्वारावती छोड़कर विन्ध्यपर्वत क्षेत्र मे विन्ध्यपुर मे रहना शुरू किया।[13] आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण मे राजा श्रेणिक के पूर्वभव वर्णन मे बताया है कि वह विन्ध्यक्षेत्र मे एक वनचर था।[14]

उपमान के रूप में

सन् १०१३ मे आचार्य अमितगति द्वारा रचित धर्मपरीक्षा मे कथन है कि तिलोतमा के विलासविभ्रम देख कर ब्रह्माजी का हृदय उसी प्रकार विदीर्ण हुआ जैसे नर्मदा से विन्ध्याचल विदीर्ण हुआ है।[15]

सन् १०२५ मे आचार्य वादिराज द्वारा रचित पार्श्वचरित मे कथन है कि सूर्य के समान अन्धकार के विस्तार को दूर करने वाला प्रभु का उपदेश जिस चित्त में स्थान नही पाता वह बन्ध और मोह से युक्त चित्त विन्ध्य पर्वत की गुहा के समान ही कालेपन को नही छोडता।[13]

सन् १०७७ मे आचार्य पद्मकीर्ति द्वारा रचित पासणाहचारिउ में पार्श्वनाथ और यवनराज के युद्ध के वर्णन मे दो योद्धाओं के द्वन्द्व का वर्णन इन शब्दो में है—वे अभिमानी महारथ ऐसे भिडे जैसे असुरेन्द्र और सुरेन्द्र हों या उत्तर और दक्षिण दिशाओ के गजेन्द्र हों या सह्य और विन्ध्य पर्वतराज भिड़े हों।[17]

सन् १३४८ में राजशेखर सूरि द्वारा रचित प्रबन्धकोष में बप्पभट्टि सूरि प्रबन्ध में कथन है कि जब बप्पभट्टि राजा आम के राज्य को छोड़कर धर्मपाल के राज्य में चले गये तो दुखी होकर आम राजा ने उनके पास यह सन्देश भेजा— विन्ध्य पर्वत के बिना भी राजाओं के महलो मे बड़े हाथी होते है और बहुत से हाथी चले गये तो भी विन्ध्यपर्वत वन्ध्य नही होता। तात्पर्य यह है कि राजा और विद्वान् एक दूसरे के बिना नही रह सकते ऐसा नहीं है। परन्तु जैसे सरोवर राजहंस की और राजहंस सरोवर की शोभा बढाने में सहयोगी है उसी प्रकार राजा विद्वान् की और विद्वान राजा को प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहयोगी होते है।[18]

सन्दर्भ—

१. निर्वाण भक्ति श्लोक २९ द्रोणीमति प्रबलकुण्डलमेढ्रके च वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे। ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रिबलाहके च विन्ध्ये च पोदनपुरे वृषदीपके च॥

२. शासन चतुस्त्रिंशिका श्लोक ३२ यस्मिन् भूरिविधातुरेकमनसो भक्ति नरस्याधुना तत्काल जगतां त्रयेऽपि विदिता जैनेन्द्रबिम्बालया:। प्रत्यक्षा इव भान्ति निर्मलदृशो देवेश्वराभ्यर्चिता: विन्ध्ये भूरुहि भासुरेऽतिमहिते दिग्वाससां शासनम्॥

३. पद्मचरित सर्ग ८० श्लोक १३६ विन्ध्यारण्यमहास्थल्यां सार्धमिन्द्रजिता यत:। मेघनाद: स्थितस्तेन तीर्थं मेघरव स्मृतम्॥

४. निर्वाणकाण्ड गाथा १२ वडवाणीवरणयरे दक्खिणभायम्मि चूलगिरिसिहरे। इंदजियकुंभयण्णा णिव्वाणगया णमो तेसिं॥ (शेष पृष्ठ १४ पर)

आज के संदर्भ में एक समीक्षा

जैनधर्म के पांच अणुव्रत

□ श्री विनोदकुमार तिवारी

जैन धर्म की शिक्षाओं एवं नियमों के लिए स्वयं महावीर स्वामी के जीवन चरित्र से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। उनका जीवन स्वयं ही आज के जैन बन्धुओं के लिए एक शिक्षा है, जिस पर विवेक और विचार की आवश्यकता है। जैन धर्म मे मुख्य पांच व्रत हैं— अहिंसा, अमृषा, अस्तेय, अपरिग्रह और अमैथुन, अर्थात हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, परिग्रह मत रखो और व्यभिचार मत करो। इन सबो पर अलग-अलग विचार की आवश्यकता है, पर उपरोक्त व्रतों से यह तो स्पष्ट होता ही है कि इनके द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियो का नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया गया है जो समाज मे मुख्य रूप से बैर-विरोध की जनक हुआ करती है। व्यक्ति मूलत: अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर ही सारी क्रियाए करता है और जब तक उसे अच्छी और बुरी क्रियाओ का मापदण्ड नही मिलता, वह अपने आप पर अंकुश नहीं लगा सकता। हिंसा, चोरी, दुराचार, झूठ और परिग्रह ये पाचो बुरे कार्य है, सामाजिक पाप है और जितने हो अंश मे व्यक्ति इनका परित्याग करेगा, उतना ही वह सौम्य और समाज हितैषी माना जायेगा और अगर इन पाचो पापों को न करने का व्रत ले लिया जाए, तो समाज और देश विवेकशील, नैतिक, शुद्ध और प्रगतिशील बन सकता है। और आत्मा की शुद्धि भी हो सकती है इसलिए प्रत्येक व्रत का स्वरूप अलग-अलग जान लेना आवश्यक है।

प्रमाद के योग से प्राणियो के प्राणों का घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है। अहिंसा पाच व्रतों का केन्द्र बिन्दु है और शेष व्रत इसके सहायक हैं, आधार हैं, ठीक वैसे ही जैसे अन्न के खेत की रक्षा और रखवाली के लिए उसके चारों तरफ चारदीवारी बना दी जाती है। इन नैतिकताओं को पूरी तरह मानने वाले को 'महाव्रती' और अंशतः मानने वाले को 'अणुव्रती' कहा जाता है।

जैनधर्म के सिद्धान्तो के अनुसार हिंसा तीन तरह की हो सकती है—मानसिक, शारीरिक और मौखिक। लोग प्राय: कहते है कि ऐसा कोई भी कार्य नही है जिसमे हिंसा न हो, अर्थात् खाने-पीने, चलने-फिरने और श्वास लेने मे भी जीवहिंसा होती है। यह कथन सत्य भी है, पर इसका यह तात्पर्य नही कि अहिंसा अव्यवहार्य है। जैन मत के अनुसार यदि सावधानी रखते हुए किसी से कोई मर जाता है अथवा दुखी हो जाता है, तो यह हिंसा नही होती ससार मे हर जगह विशाल और सूक्ष्म जीव है और वे अपने निमित्त मरते भी है, पर इस जीव घात को हिंसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव मे हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। अगर एक शिकारी बन्दूक लेकर बैठा हो और सारे दिन वह एक भी शिकार न कर पाये, तो भी वह पापी ही कहा जायेगा, क्योकि उसका मन जीवहत्या मे रम रहा है। पर वही दूसरी तरफ एक किसान अपने खेत मे हल चला रहा हो और उसके परिणामस्वरूप असख्य जीवो का घात हो रहा हो, तो भी वह किसान सकल्पी हिंसक नही कहा जा सकता, क्योकि उसकी इच्छा और अभिलाषा खेत जोतकर अनाज पैदा करने मे है, जीवो को मारने मे नही। अत। यद्यपि प्रत्येक क्रिया मन, वचन, और शरीर से होती है, पर वचन और शरीर से होने वाली क्रिया का मूल भी मन ही है, अत: मन को सावधान रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मन की चंचलता व्यक्ति को कहां से कहां ले जाती है और इस दौरान व्यक्ति अपना लक्ष्य भूल जाता है। फलस्वरूप वह द्यूत, आखेट, मद्यपान और मांसाहार का शिकार हो जाता है। एक अहिंसाव्रती को इन चीजो से सावधान रहना चाहिए और तभी वह सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दुख के कारणों पर विचार कर सकता है तथा इनका समाधान कर सकता है।

सत्याणुव्रत पालक को सदा हित और मित बोलना चाहिए, किसी बात को घटा-बढ़ाकर नहीं रखना चाहिए

उसे दूसरों की बुराई नहीं करनी चाहिए और असभ्य वचन नहीं बोलना चाहिए।

वचन के चार प्रकार होते है—कुछ वचन तो असत्य होते हुए भी सत्य माने जाते है—जैसे 'वस्त्र बुनता है।' यहां पर वस्त्र बुनना यद्यपि असत्य है, किन्तु लोक व्यवहार में प्रचलित होने से उसे सत्य माना जाता है। कुछ वचन सत्य होते हुए भी असत्य होते है—जैस कोई व्यक्ति दस दिनो पर किसी वस्तु को देने का वादा करके भी समय पर नही देता, वरन पन्द्रह दिनो बाद देता है। कुछ वचन सत्य-सत्य कहे जाते है—जैसे जिस वस्तु को जैसा देखा गया है, वैसा ही कहना सत्य-सत्य है। चौथा वचन असत्यासत्य है, जिसे सफेद झूठ की सज्ञा दी जा सकती है।

उपरोक्त अनुदेशो का शत् प्रतिशत पालन तो कोई मुनि ही कर सकता है, अतः इसे मानने वाले को सत्य महाव्रती कहा जाता है। पर गृहस्थ और सामान्य जीवन के क्रम मे कोई व्यक्ति इन निर्देशो का अक्षरशः पालन नही कर सकता, अतः वैसे सत्य को सत्य अणुव्रत कहा जा सकता है। अगर किसी वचन से किसी भी तरह की सत्य हिंसा होती है, तो वैसा नही बोलना चाहिए। अन्ततः सत्य तथा असत्य की अहिंसा और हिंसा की तुलना की जा सकती है और सत्य वचन से ही अहिंसा संभव भी है।

अस्तेय जैनधर्म का तीसरा व्रत है और इसका साधारणतः अर्थ होता है 'पराई वस्तु को ग्रहण न करना।' जो मनुष्य निर्मल अचौर्यव्रत का पालन करते है, वे किसी भी वस्तु को लेने के अधिकारी नही होते, जब तक कि वह वस्तु उन्हें सौप न दी जाए। दूसरी तरफ अस्तेयाणुव्रत पालन करने वाले व्यक्ति आम तौर से प्राकृतिक वस्तुओ का उपयोग—उपभोग कर सकते है, जैसे पानी, घास, मिट्टी वगैरह। किसी के द्वारा छूट गई या भूली हुई वस्तु को स्वयं लेना या दूसरे को सौप देना इस नियम के प्रतिकूल है। जिस धन का कोई मालिक नही होता, वह राज्य का होता है तथा उसे स्वयं रख लेना उचित नही कहा जा सकता। चुराने के विचार से किसी वस्तु को उठाना चोरी के उपाय बतलाना, चोरी का सामान खरीदना, कम या अधिक तोलना और गलत तरीके से धन कमाना ये सभी जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य और अभ्यन्तर वस्तुओं के प्रति लालसा रखना ही परिग्रह है। बाह्य परिग्रहो में खेत, धान्य, धन, बरतन, आसन, शय्या, दास-दासी, पशु और वस्त्र आते है, जबकि अन्तरंग परिग्रह चौदह है—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद, हास्य, रति, अरति शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। अगर आन्तरिक परिग्रह से छुटकारा पाना हो, तो बाह्य सपति को अपने से अलग हटाना ही होगा। परिग्रह से ही हिंसा बढती है, अतः बुद्धिमान गृहस्थ को इससे अपना मन हटाना चाहिए, तभी वह परिग्रह परिमाणव्रत का पालन कर सकता है। जब अपने साथ जन्म लेने वाला शरीर ही बिछुड जाता है, तब धन सम्पत्ति और स्त्री-पुत्र की चिन्ता करने से क्या लाभ होगा!

वर्तमान परिस्थितियो मे अपरिग्रह का सिद्धान्त हमारे लिये इसलिये भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि इसी के द्वारा समाज और देश से आर्थिक असमानता को दूर किया जा सकता है और हर व्यक्ति अपनी जरूरत की आवश्यक वस्तु पा सकता है। आज धन-सम्पत्ति, भूमि और प्रतिष्ठा के पीछे व्यक्ति पागल हो रहा है, जिससे व्यक्ति-व्यक्ति के तथा राष्ट्र, राष्ट्र के बीच तनाव बढ़ रहा है। अपरिग्रह पूजीवाद और कम्युनिज्मवाद के बीच की चीज है, जिस पर चलकर वास्तविक समाजवाद की प्राप्ति की जा सकती है।

जैनधर्म का अन्तिम और महत्वपूर्ण व्रत है ब्रह्मचर्य। जो व्यक्ति अपने आपको काम विकार से पूर्णतः मुक्त कर लेता है, वह ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करता है। आदर्श गृहस्थ को ऐसी वार्ता नही करनी चाहिए, जो कामोद्दीपक हो, ऐसे रसो का सेवन नही करना चाहिए, जिससे काम-विकार की वृद्धि हो और न ऐसी पुस्तकें ही पढ़नी चाहिए। परायी स्त्री के साथ रमण करना, अप्राकृतिक व्यभिचार करना, दूसरो के विवाह कराने में आनन्द लेना—ये सारी बाते ब्रह्मचर्यव्रत की घातक है और इनसे अपने आपको अलग रखना सच्चे अर्थों मे इस नियम का पालन करना है।

भगवान महावीर द्वारा इस अणुव्रत को विशेष महत्व देने के पीछे भी एक कारण था। छठी शताब्दी ई० पू०

का महावीर कालीन धर्म और समाज पूरी तरह व्यभिचार जातिवाद, हिंसा और भ्रष्टाचार के शिकजे में जकड़ा पडा था। तत्कालीन हिन्दू धर्म के ठेकेदारों ने मन्दिरो और मठों में देशवासियों के रहने की प्रथा का प्रचलन कर दिया था, जिससे धार्मिक अनुष्ठानों पर चोट तो पहुंचती ही थी, धर्म के नाम पर विलासिता भी बढ़ती जा रही थी। दूसरी तरफ समाज मे स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही थी और वे मात्र भोग-विलास की वस्तु बनकर रह गयी थी। आगे चलकर कई स्त्रियो का वर्णन आता है, जो न सिर्फ अपने समाज और वर्ण, वरन् राष्ट्रीय समस्याओं पर भी अपना विचार देने की क्षमता रखने लगीं और समाज में उनका स्थान प्रतिष्ठा एवं गौरव का हो गया। ऐसे समय में भ० महावीर ने पुन: इन व्रतो की व्याख्या कर धर्म को स्थिर रखा।

जैनधर्म के उपरोक्त पांचो व्रतों और नैतिक नियमों पर ध्यान देने से पता चलता है कि उनका सम्बन्ध मात्र जैनधर्म से न होकर परिवार, समाज और राष्ट्रीय नीतियों एव सिद्धान्तों से है। इनके पीछे जहाँ आध्यात्मिक भावना है, वही यह विश्व की प्रगति, शान्ति और सहृदयता में सहायक हो सकती है। आज विश्व में हिंसा, व्यभिचार और कटुता बढ़ती जा रही है। क्या हम जैनधर्म के पंच-अणुव्रत के माध्यम से इन्हे समाप्त करने में समर्थ नही हो सकते? अवश्य ही!

—व्याख्याता इतिहास विभाग.
यू० आर० कालेज, रोसड़ा
(समस्तीपुर)

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

५. विंझाचलम्मि रण्णे मेघणादो इंदजियसहिय। मेघवरणाम तित्थं णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

६. महाशैल विन्ध्याचल दृष्टि पाहा तया मस्तकी तीर्थ आहेति माहा। तेथे मेघनाद मुनि इद्रजया। मेघवर्ष तीर्थ झाली मुक्ति श्रिया॥
(तीर्थनन्दनसंग्रह में चिमणा पडित की तीर्थ वन्दना में)

७. बृहत्कथाकोष कथा १०६ इलोक २५७ स्थापयित्वा यतो दुर्गे विन्ध्ये भक्तिपरायणै:। दस्युभि: पूजिता सा च नता पुष्पकदम्बकैः॥

८. कथाकोष संधि ४२ कडवक २१ सहु सघेण खवती कलिमलु गय विहरति सा विंझाचलु। दुग्ग विंझ-भिल्लेहि पवत्तिय दुग्ग विंझवासिणि ते वुत्तिय॥

९. विविधतीर्थकल्प प्रकरण ४५ विन्ध्याद्रौ मलयगिरौ च श्री श्रेयांस:। प्रतिष्ठानपुरे अयोध्यायां विन्ध्याचले माणिक्यदण्डके मुनिसुव्रत:।

१०. महापुराण पर्व ३० श्लोक ६५ से ८४ भूभृता पतिमुत्तुगं पृथुवश धृतायतिम्। परैरलंघ्यमद्राक्षीद् विन्ध्याद्रि स्वमिव प्रभु: ॥इत्यादि।

११. चउपन्नमहापुरिसचरिय पृ० ३०९ वियडगिरिकडयकूडनिविडम्मि उद्धुद्धाइयतुंगतरुसकडिल्लम्मि बहुसावयसहस्ससकुलम्मि विंझाडइरण्णगहणम्मि पंचसयजूहाहिवई आसि करिराया।

१२. हरिवंशपुराण सर्ग १७ श्लो० ३६ विन्ध्यपृष्ठेऽभिचन्द्रेण चेदिराष्ट्रमधिष्ठितम्।

१३. बृहत्कथाकोष कथा ११८ ततो जरत्कुमारोऽपि हित्वा द्वारावति पुरीम्। कृत्वा विन्ध्यपुरं तस्थौ विन्ध्यपर्वतमस्तके॥

१४. उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लो० ३८९।

१५. धर्मपरीक्षा परिच्छेद ११ श्लो० ४०।

१६. पार्श्वचरित सर्ग १२ श्लो० ५५ यत्रास्पदं न लभते जिन शासन ते तेजो रवेरिव तम:प्रसरापहारि। सा बन्धमोहनमयी जिन चित्तवृत्ति: न श्यामिका त्यजति विंध्यगिरेर्गुहेव॥

१७. पासणाहचरिउ संधि ११ कडवक १० ते भिडिय महारहसावलेव अवरुप्परु असुरसुरिन्द जेव। णं उत्तर दाहिण गयवरिंद णं सझ विंझ इह महिहरिंद॥

१८. प्रबन्धकोष प्रकरण ९ विंभेण विणा वि गया नरिंदभवणेसु होंति गारविया: विंझो न होई वंझो गएहिं बहुएहि वि गएहिं॥ माणसरहिएहिं सुहाइं जह न लब्भंति रायहंसेहिं। तह तस्स वि तेहिं विणा तीरुत्तंगा न सोहंति।

—महाकोशल महाविद्यालय
जबलपुर

बुन्देलखण्ड का जैन इतिहास[1]

(माध्यमिक काल)

□ अख्तर हुसैन निजामी

बुन्देलखण्ड के माध्यमिक इतिहास के तीन युग है। पहला राजपूत काल, जिसमे कन्नौज के गुर्जर–प्रतिहार साम्राज्यान्तर्गत चन्देलों के राज्य में यमुना नदी के दक्षिण महोबा, कालजर तथा खजुराहो के केन्द्र थे और खजुराहो के दसवी-ग्यारहवी शताब्दी ईसवी के जैन मंदिर आज जगत विख्यात है। दिल्ली की तुर्की सत्ता ने जब ग्वालियर पर अधिकार करके चन्देलो पर सेनाएँ भेजी तो चन्देल, महोबा–कालजर से हट कर आजमगढ चले गये। जैनियो के केन्द्र एरछ, देवगढ, बानपुर, अहार, पपौरा बराबर पनपते रहे, क्योकि वैश्य-व्यापारी का हित इसमे होता है कि नई सत्ता को सहयोग देकर उसका सरक्षण प्राप्त किया जाय।

पश्चिमी बुन्देलखण्ड मे चन्देरी राज्यान्तर्गत भेलसा (विदिशा) व्यापार का केन्द्र था जिसे तेरहवी शताब्दी के अन्त मे कड़ा के उपराज्यपाल ने लूटा था। इस समय की ग्रंथ-प्रशस्तियों तथा शिलालेखो पर अनुसधान की आवश्यकता है। दूसरा युग, इस समय के बुन्देलखण्ड इतिहास का, तब आया जब अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा, जलालुद्दीन खिलजी को कडा तथा मानिकपुर के बीच, बहने वाली गगा नदी की मंझधार पर मारकर दिल्ली सल्तनत का भार संभाला और ऐनुल मुल्क मुलतानी को भेज कर मालवा के साथ चन्देरी को भी हस्तगत कर वहां एक राज्यपाल की नियुक्ति कर दी। जैनियों के सांस्कृतिक केन्द्र, चन्देरी के राज्यपाल ही के अधिकार मे थे और यह समय चौदहवी शताब्दी ईस्वी का प्रारम्भ है जब कि 'चन्देरी देश' मे बटिहाडिम के स्थान पर एक उपराजधानी स्थापित की गई।

माध्यमिक बुन्देलखण्ड का तीसरा युग वह है जब कि माण्डवगढ के गोरी—खिलजी नरेशों के राज्य मे परमार राजपूतों की प्रशासनिक परम्परा पर पुन: वृहद मालवा अस्तित्व मे आया और चन्देरी अब मालवा की उपराजधानी बन गई और चन्देरी से बुन्देलखण्ड के उस भूभाग का शासन होता रहा जो मालवा साम्राज्य मे सम्मिलित था। शेष बुन्देलखण्ड पर यमुना नदी के नीचे पश्चिम से पूर्व केन नदी तक कालपी के मालिकजादा तुर्क शासन करते थे। दिल्ली-माण्डव काल अर्थात् चौदहवी-पन्द्रहवी शताब्दी में अनेको शिलालेख संस्कृत तथा देशी बोली अथवा मिश्रित भाषा में और इसी प्रकार ग्रन्थ-प्रशस्तिया एव लिपि-प्रशस्तियाँ भी पाई गई है जो दिगम्बर जैन ग्रन्थो मे से निकाल कर आधुनिक विद्वानो ने उनका संग्रह कर दिया है। यही शिलालेख और प्रशस्तियां ही हमारी जानकारी के आधार है। बटिहाडिम में गढ़ का निर्माण होने से उसका नामकरण बटिहागढ हो गया। यह बटिहागढ़ दमोह जिले की उत्तरी तहसील हटा मे स्थित है और सन १३०५ ईस्वी की खिलजी विजय के पश्चात् तुगलुक राज्यवंश के सुलतान गयासुद्दीन तथा मुहम्मद बिन तुगलुक के समय चन्देरी के मालिक जुलची तथा बटिहा के जलालउद्दीन खोजा का शासन ऐसा रहा है कि उसमें जैन प्रभाव की झलक स्पष्ट है। जुलचीपुर का गाँव, जिसे आज कल 'दुलचीपुर' कहते है, मालिक जुलची का बसाया हुआ माना जाता है और सागर जिले मे स्थित है। जुलची ने सन १३२४-२५ ई० मे एक बावली का निर्माण किया था। तथा बटिहागढ का श्रेय भी उसी को है। इसी बटिहागढ़ में उपराज्यपाल जलाल ने एक 'गोमठ' स्थापित किया जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साथ ही उसने भी एक बावली खुदवाई और एक बाग लगवाया जो

1. अवधेश प्रतापसिंह विश्वविद्यालय, रीवा की जैन विद्या गोष्ठी, १९८० में पठित।

जलाल बाग के नाम से अब भी जाना जाता है। किन्तु पशुओं के लिए विश्राम गृह बनवाना, यह तो जैन परम्परा का सूचक है।

भट्टारकीय पृष्ठभूमि

ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी में गोरी-खिलची सुलतानो के तत्वावधान मे बुन्देलखण्ड क्षेत्र में दिगम्बर जैनियो की गति-विधियाँ बढ़ गई थी। एक तो होशंगशाह गोरी तथा महमूद शाह खिलची जैसे महान एव महत्वाकाक्षी सुलतानों ने प्रथम स्वतंत्र शासक दिलावर की उदार एव जैन-पक्षीय नीति को आगे बढाया। दूसरे यह कि परिहारो के चन्देरी राज्य का महत्व, जो दिल्ली के खिलजी-तुगलुक सुलतानों ने चन्देरी में राज्यपाल और बटिहागढ मे उपराज्यपाल रख कर, पिछली एक शताब्दी मे कायम रखा था—उसमें कोई परिवर्तन नही किया और अब चन्देरी, मालवा की उपराजधानी हो जाने के कारण उसकी वही मान्यता रही जो पहले थी। हाँ सुलतान महमूद खिलजी के समय, उपराज्यपाल का कार्यालय बटिहा से उठ कर 'दमोव' (दमोह) आ गया और दमोह से समूचे दक्षिणी बुन्देलखण्ड पर—वर्तमान सागर जिले से जबलपुर जिले के बिलहरी (मुडवारा तहसील, कटनी) तक का शासन सुचारु रूप से होने लगा। इस समूचे चन्देरी क्षेत्र में, जिसको शिलालेखो मे 'चन्देरी देश' कहा गया है—दमोह को जो महत्व प्राप्त हुआ उसके कारण उसका उल्लेख 'दमोवा देश' के नाम से होने लगा और अब बटिहा छोड़ कर जैनी महाजन और सेठ भी दमोह तथा बिलहरी तक फैल गये और उनकी बस्तियो मे आचार्य भट्टारक मुनि तथा सघो का आवागमन हुआ। मन्दिरों-मूर्तियो का निर्माण तथा ग्रन्थो की रचना साथ-साथ चली। इस नवीन प्रगति को समझने के लिए भट्टारकीय आन्दोलन का उल्लेख करना आवश्यक है। ग्रंथ प्रशस्तियो में प्राय: इस युग में ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ता के साथ 'महाखान भोजखान' का उल्लेख किया जाता था। यह विरूद फारसी के 'आजम मुअज्जम' का अनुवाद (आजम=महा) भी है और अपभ्रंश (मुअज्जम=भोज) भी। दिलावर का ज्येष्ठ पुत्र होशंग तो मान्डव की गद्दी पर बैठा और लहुरा बेटा कद्र खान, जो चन्देरी का प्रथम राज्यपाल था—उसकी उपाधियों में भी आजम-मुअज्जम विद्यमान है जो बाद के उत्तराधिकारी बराबर प्रयोग में लाते रहे। मान्डव के सुलतान और चन्देरी के राज्यपाल, गैर-मुस्लिम जनता का हृदय मोहने के लिए, मन्दिर बनवाने और मूर्तियां गढवाने पर कोई रोक-टोक न करते थे और जैन व्यापारियों को उच्च पद तथा सम्मान प्रदान करते थे। सुदृढ़ शासन ही व्यवसाय वर्धक होता है और राज-भक्ति एवं स्वामी भक्ति की नींव डालता है। तभी तो सुलतान गयासुद्दीन खिलजी के समय में (१४६९–१५००)। फारसी के साथ सस्कृत शिलालेखों का बाहुल्य पाया जाता है और जैन ग्रन्थ-प्रशस्तियो में बड़ी सख्या में उसका उल्लेख मिलता है और ये शिलालेख ग्रन्थ-प्रशस्तियो में दूरवर्ती क्षेत्रो में पाई गई है। देवगढ क्षेत्र के शिलालेख में होशंगशाह को 'आलम शाह' कहा गया है (१४२४ ई०)। यह देवगढ, खजुराहो पतन के पश्चात् चन्देरी देश का तत्कालीन सबसे बडा जैन साम्कृतिक केन्द्र बन गया था जहाँ जैनियो ने मन्दिरो मूर्तियो की स्थापना की योजना चालू की थी। मूर्ति-लेख में सुलतान का नामोल्लेख, तुर्की शासको की धार्मिक सहनशीलता का द्योतक है। इन सुलतानों की राजधानी माण्डवगढ़ तो ओसवाल-श्रीमाल जाति के श्वेताम्बरों का गढ़ बनी हुई थी और सौ वर्षों तक वे लोग न केवल दरबार मे छाये रहे अपितु सस्कृत भाषा मे धार्मिक ग्रन्थो की रचना करते रहे और कल्पसूत्र कालकाचार्य कथा के ग्रन्थो मे उच्च शैली के चित्र बनवाते रहे और अनेको ग्रथो की लिपियां कराते रहे।

आधुनिक विद्वानों ने मूर्तिलेखो, पट्टावलियो और ग्रथ-प्रशस्तियो के आधार पर भट्टारकीय दिगम्बर संघो के पट्टों का उल्लेख किया है और पट्टाधीशो की नामावली बनाई है जिससे यह स्पष्ट हुआ है कि पन्द्रहवी शताब्दी ईस्वी में भट्टारक गुरुओ से प्रेरणा लेकर जैन गृहस्थों ने बड़ी स्फूर्ति से मूर्तियों, मन्दिरों, चैत्यालयो एव उपासराओ का निर्माण कराया। नरवर तथा सोनागिर के अतिरिक्त उस समय उदयगिरि, एरछ, आहार एव पपौरा के लघु-केन्द्रो में सांस्कृतिक गतिविधियां चलती थी।

इसी समय मूल सघ—सरस्वती—गच्छ—नन्दी आम्नाय के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति द्वारा चन्देरी में एक पट्ट

अथवा गद्दी स्थापित हुई। उसकी पट्टावली के तीन शुभनाम तत्कालीन बुन्देलखण्ड के जैन इतिहास की 'त्रिमूर्ति' है—प्रथम देवेन्द्र कीर्ति गुजरात के निवासी और भट्टारक पद्मनन्दि, के शिष्य थे और सर्वप्रथम वे ही चन्देरी के मंडलाचार्य बनाए गए थे। ये ही देवेन्द्र कीर्ति सन् १४३६ ई० के पूर्व किसी समय चन्देरी पट्ट के स्थापक हुए, जैसा कि पडित फूलचन्द शास्त्री प्रमाणों के आधार पर अनुमान करते है। इसी समय खिलजी कुल के मुहमूद खां ने गोरी कुल के मुहम्मद शाह से राज-सत्ता छीन कर चन्देरी विद्रोह का दमन किया था और कई जैन परिवारों के लोग मुहम्मद शाह गोरी का पक्ष लेने के कारण बन्दी बनाए गए थे। उपरोक्त देवगढ़ वाले मूर्ति लेख में सुलतान होशंग शाह के समय, देवेन्द्रकीर्ति का नाम आया है। देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य चन्देरी देश के निवासी परवार जातीय विद्यानन्दी हुए जो सन् १४६८ ई० के पूर्व किसी समय त्रिभुवनकीर्ति के नाम से चन्देरी के मण्डलाचार्य हुए और जब गुरु का देहान्त हुआ तो पट्टाधीश हो गए। इन त्रिभुवनकीर्ति के शिष्य सुप्रसिद्ध श्रुतकीर्ति थे जो अपनी विद्वता के लिए जाने जाते है। अपभ्रंश की परम्परा इस समय चल रही थी और श्रुतकीर्ति अपभ्रंश के अच्छे लेखक थे। इन्होने गयास शाह खिलजी (१४६९-१५००) तथा नसीर शाह (१५००-११) के समय प्राय: चन्देरी देश के 'जेरहाट' नगर के नेमिनाथ चैत्यालय मे बैठकर ग्रन्थ रचना की है। यह जेरहाट नामी स्थान कौन सा है इसका निर्णय अभी तक नही हो पाया है। रायबहादुर हीरालाल सागर जिले मे जेरहाट (जेरठ) ग्राम का पता देते है किन्तु वहाँ किसी जैन मन्दिर का अवशेष भी नही है।

पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री ने श्रुतकीर्ति के चार ग्रन्थो का उल्लेख किया है :—

(१) हरिवंशपुराण (२) धर्म परीक्षा (३) परमेष्ठी प्रकाश सार और (४) योगसार। इन ग्रंथों की जो पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई है। उन सब मे सम्वत् समान रूप से एक ही अंकित हुआ है : अर्थात १५५२ विक्रमी— १४९५ ईस्वी और प्रशस्तियो मे परम्परागत, चन्देरी के शासक राज्यपालों का प्रचलित विरुद 'महाखान भोजखान' मात्र ही उल्लिखित है। सुलतान ग्यास शाह का तत्कालीन राज्यपाल, सुप्रसिद्ध मल्लूखान का पुत्र मल्लूखान ही हो सकता है। चन्देरी पट्ट के भट्टारकों की विशेषता यह थी कि वे बुन्देलखण्ड के सुविख्यात दिगम्बर जैन परवार जाति के प्रतिनिधि थे और परवार जाति आज भी बुन्देलखण्ड के जैनियों मे बहुसंख्यक और प्रभावशाली है।

श्रुतकीर्ति के सिवाय, आधुनिक दतिया जिले में स्थित सोनागिर के भट्टारक थे जिनका संघ काष्ठा, गच्छ माथुर और गण पुष्कर था और समकालीन गुरु कमलकीर्ति थे, जो इस गद्दी का पहला नाम है, और इनके उत्तराधिकारी पट्टाधीश शुभचन्द्र थे। प्रथम गुरु कमलकीर्तिदेव के शिलालेख सन ईस्वी १४४९, १४५३ और १४७३ के पाए गए है। सोनागिर, ग्वालियर की शाखा पीठ था और तोमर राजपूतो की राजधानी ग्वालियर का यह जैन केन्द्र सबसे बड़ा एव सम्पन्न था। ऐसी धारणा है कि सोनागिर का नाम, श्रमणागिरि का विकृत रूप है और इसका नामकरण श्रमणसेन मुनि (विक्रमी सम्वत १३३९) से हुआ माना जाता है।

जिन तारण तरण स्वामी

ईस्वी सम्वत् की पन्द्रहवी शताब्दी अनेकों विशेषतायें रखती हैं। हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की पर्याप्त प्रगति चिश्ती सम्प्रदाय के सुफी मुस्लिम संतो द्वारा हुई थी जिसकी ध्वनि अमुस्लिम वैष्णव एवं जैन-समाज के तत्कालीन साहित्य में विद्यमान है। जैन श्रावकों की जो सुची ग्रन्थ प्रशस्तियों मे मिलती है उसमें उनके नाम उस समय के मुस्लिम संतों के अथवा उनकी समाधियों के नाम पर आधारित हैं। प्रान्तीय राज्यों में खुशहाली का दौर-दौरा था और व्यापार उन्नति पर था। एक ओर सूफियों ने ग्रामीण बोलियों में रचना शुरू की तो दूसरी तरफ कायस्थों, खत्रियों और कश्मीरी पण्डितों ने फारसी राजकीय भाषा सीख कर बड़ी संख्या में सुलतानों के कार्यालय को संभाला। विशेष रूप से माण्डव के दरबार में जैनियों का पल्ला भारी था।

जौनपुर की शर्की सल्तनत के अन्तर्गत संत कबीर, जुलाहा जाति के प्रतिनिधि, गोरखपंथी विचारों को लेकर चले और गोरखनाथी विचारधारा स्वयं जैन धर्म से प्रभावित थी। कबीर के निर्गुण प्रेम मार्ग मे इस्लाम का शुद्ध एकेश्वरवाद एव जैन धर्म के उच्च सिद्धान्तों का पुट मौजूद है। कबीर ही के समकालीन गुजरात (अहमदाबाद) के श्वेताम्बर जैन समाज मे संत लोकाशाह की उत्पत्ति हुई जिन्होंने कबीर के समान ही मूर्ति पूजा का खण्डन किया और यतियो को ललकार कर कहा कि प्रतिमा-पूजा का औचित्य क्या है?—आगम साहित्य मे कोई इसका प्रमाण हो तो लाओ।" विदित रहे कि लोकाशाह के प्रमुख दो शिष्यों मे लखमसी पारिख, मालवा की राजधानी माण्डव के निवासी थे अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि वाराणसी तथा माण्डवगढ के मध्य स्थित चन्देरी देश (बुन्देलखण्ड) मे इन नवीन विचारो ने दोनों दिशाओं से प्रवेश किया होगा। लोकाशाह का जन्म सम्वत् १४७५ विक्रमी १४१८ ईस्वी है जबकि उनसे एक पीढ़ी पश्चात तारण-तरण स्वामी ने बुन्देलखण्ड के बिलहरी नगर (कटनी तहसील—जबलपुर जिला) मे सम्वत १५०५=१४४८ ई० में जन्म लिया। लोकाशाह का ढूंढिया पंथ सं० १५०८—१४५१ ई० से स्थापित हुआ तो छद्मस्त बाणी के लेखानुसार तारण स्वामी ने अट्ठावन वर्ष की अवस्था में अपने मत का प्रचार किया जिसका सम्वत् १५६३ ईस्वी १५०६ बैठता है।

तारण-तरण स्वयं विद्वान् न थे। एक भक्त के लिए विद्वान होना अनिवार्य भी नहीं है। भट्टारकों के रूढ़िवादी आचार-विचार और उनके शिथिलाचार का यह युग था। तारण परवार जातीय गढ़ा साहु के यहाँ उत्पन्न हुए और सिरोज नगर (जिला विदिशा) के पास सेमल खेड़ी मे अपने मामा के घर जाकर रहे। जब होश सभाला तो मूलसंघीय चन्देरी पट्टाधीश, विद्वान लेखक श्रुतकीर्ति का जमाना था। स्वयं तारण-तरण सत्य की खोज मे यथाकथित भट्टारकों से दूर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विभिन्न स्थानों में तप करते रहे। भट्टारक तो प्राचीन मुनियों के आदर्श से नीचे गिर चुके थे और उनके कठोर अनुशासन को त्याग कर आलस्य तथा भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने लगे थे। यद्यपि जैन संस्कृति के प्रति उनकी सेवाएं ऐसी है जिनकी बदौलत न केवल मूर्ति गढ़न, मन्दिर निर्माण एव ग्रथ लिपि-करण को बड़ा प्रोत्साहन मिला किन्तु द्रव्य-सकलन और उनके ठाठ-आडंबर के कारण वे मठाधीश बन कर रह गए थे। परस्पर विचरते रहने के विपरीत, भट्टारकों ने चैत्यालयो और उपासराओं मे तंत्र-मंत्र तथा आयुर्वेद ज्योतिष का अभ्यास चलाया। भट्टारकों मे जो विद्वान थे, उनके विचार संकीर्ण और प्रतिक्रियावादी थे और शूद्रो तथा स्त्रियों की मोक्ष प्राप्ति को स्वीकार नहीं करते थे। तारण-तरण के विचार भट्टारको से अलग थे और सर्वजातीय अपनी मडली सहित तारण सेमल खेडी, सूखा (दमोह जिला) तथा राख (अब मल्हारगढ़) के निकटवर्ती जगलो मे तपस्या करते रहे। मुसलमान शिष्यो मे लुकमान साह की कुटिया निसई क्षेत्र के हाते के बाहर विद्यमान है। दूसरे शिष्य रूइयारमन भी मुसलमान पिंजारे कहे जाते है।

तारण-तरण की एक दर्जन रचनाओं का सग्रह आज उपलब्ध है जिसमे जैन धर्म के विशेष सिद्धातो—अनेकान्त तथा स्याद्वाद—का पग-पग पर दिग्दर्शन होता है। यद्यपि तारण स्वामी के क्रियाकाड मे मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान न था तथापि दिगम्बर श्रावको और उनके गुरुओ की मूर्ति पूजा पर सीधा आघात उन्होने नही किया जैसा कि लोकाशाह ने श्वेताम्बरों और कबीर ने वैष्णवो के बीच किया था। तारण की रचनाओं की भाषा विचित्र और अटपटी है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी शब्दावली का सम्मिश्रण है।

तारण स्वामी ने सड़सठ वर्ष की अवस्था मे शरीर त्याग दिया। उनकी समाधि निसई जी के नाम से तारणपंथी समाज का मुख्य केन्द्र है जहा से दिगम्बर परवार जाति के इस सर्वोच्च महान आत्मा की विचारधारा का प्रकाश चारों दिशाओ मे फैलता रहा है। किन्तु कबीर तथा लोका जैसे ऊंचे भक्तों की टक्कर का यह

महापुरुष ऐसा है जिसके जीवन का वृत्तान्त बहुत ही कम ज्ञात है। तारण पंथ के सगठन कार्य को हाथ में लेने वाला कोई योग्य विद्वान भी तारण समाज ने पैदा नहीं किया। आज भी तारण वाणी पर जो कुछ कार्य हुआ है अथवा हो रहा है उसके लिए समाज ऐसे विद्वानों का ऋणी है जो या तो अजैन हैं या तारणपंथी भी नहीं हैं।

उपरोक्त वर्णन का यह अर्थ नही है कि बुन्देलखण्ड में जैन समाज के भीतर प्रतिमा पूजा का, तारणपंथी आन्दोलन द्वारा अंत कर दिया गया। कदापि नहीं। तारणपंथी अल्प संख्या में रहे और आज भी हैं। जैन गृहस्थ, अपने भट्टारक गुरुओं के अनुसरण में, मूर्ति निर्माण तथा स्थापना में एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते रहे। ऐसे श्रावकों में, जिवराज पापड़ीवाल ने मूर्ति निर्माण मे विशेष ख्याति प्राप्त की है। अकेले ही उसने एक लाख जैन प्रतिमाएं गढ़वा कर समस्त उत्तरी भारत के जैन मन्दिरो में भेज दी और शायद ही कोई जैन मन्दिर ऐसा हो जहाँ जिवराज पापड़ीवाल लेखांकित विक्रम सम्वत १५४८=१४९१ ईस्वी की कोई न कोई मूर्ति न पाई जाती हो।

संदर्भ ग्रंथ सूची

हीरालाल—दमोह दीपक

खान बहादुर इम्दाद अली : गजेटियर आव दमोह डि०

— : दमोह डि० गजे० (१९०५)

— : दमोह डि० गजे० (१९७४)

हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर रा० के अभिलेख

हरिहरनिवास द्विवेदी : ग्वालियर के तोमर

— : ग्वालियर स्टेट गजेटियर

— : गाइड टू चन्देरी

— : एपिग्राफिया इण्डिका

— : ई० आय० (पर्शियन ऐन्ड अरेबिक सप०)

— : इन्डियन एपिग्राफी (वार्षिक रिपोर्टस)

— : ग्वालियर राज्य के पुरातत्व पर वार्षिक रिपोर्टस

राय ब० हीरालाल : सी० पी तथा बरार के शिला-लेखों की विवरणात्मक सूची

परमानन्द जैन शास्त्री : जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह

— : अनेकान्त त्रैमासिक, दिल्ली

शिहाब हकीम : मआसिर-ए महमूद शाही सीतामऊ फोटोस्टाट)

दलसुख मालवणिया : श्री लोंकासाह (गुजराती) (रत्न मुनि स्मृति ग्रंथ)

— : लुका के बोल (स्वाध्याय, वड़ोदरा II, १)

— : हिन्दी अनुवाद के लिए देखिये सम्यग्दर्शन, सैलाना (म०प्र०)

उपेन्द्रनाथ दे : मेडीवल मालवा

— : उर्दू (पत्रिका) पाकिस्तान

— : इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (त्रैमासिक)

— : जैन ऐन्टीक्वेरी, आरा

— : जनरल मध्यप्रदेश इतिहास परिषद

फूलचन्द्र जैन शास्त्री : ज्ञान समुच्चय सार की भूमिका एवं क्षुल्लक चिदानन्द स्मृति ग्रंथ और अन्य लेख

नाथूराम प्रेमी : जैन हितैषी (पत्रिका) रीवाँ (म० प्र०)

□□

क्षमावणी

(आध्यात्मिक)

मैं हूं चेतन निज-स्वभाव में, मुझमें लघु-गुरु-भाव नहीं।
क्षमा दान-आदान पराश्रित, लैन-दैन का चाव नहीं॥

कितने जीवों ने एकाकी, मिश्रित मम अपमान किए।
मैंने उनको जाना–पर, अनजाने जैसे मान लिए॥

क्षमा धरम मेरा है अपना मुझसे छूट नहीं सकता।
कैसे लूं-दूं इसे आत्मवर! सूझ नहीं मुझको पड़ता॥

क्षमा-दान व्यापार बना अब इसमें है कुछ सार नहीं।
क्यों करे, क्षमा-का दान कोई, जब, क्षमा किसी को भार नहीं॥

पर्यूषण में अनुभव पाया, स्वाश्रित-समरस पीने का।
भाव जगा है मन में मेरे, सिद्ध-शिला पर जीने का॥

मैं अपने में जीता हूं, जगती जन अपने में जीवें।
अध्यात्म-पर्व का लाभ उठा, सब प्राणी समरस को पीवें॥

जैसे होवें भाव आपके मुझको भी लखते रहना।
क्षमा-रत्न अनमोल निधि ये, कभी किसी को क्या देना॥

आत्म-भाव में आप सदा रस स्वातम का चखते रहना।
दे ले क्षमा यदि कोई तो, मौन-रूप लखते रहना॥

जब क्षमा किसी को दान न की तब क्षमा हमारे साथ रही।
क्षमा-शील होने से जगती, 'पद्म' बनेगी सौख्य मही॥

(व्यावहारिक)

'खंमामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झ ण केण वि॥"

□ श्री पद्मचन्द शास्त्री

□□

जैन और बौद्ध प्रथमानुयोग

□ डा० विद्याधर जोहरापुरकर

व्यक्ति के जीवन में स्वप्नों का जो स्थान है वही समाजजीवन मे पुराण कथाओं का है। स्वप्न में जिस प्रकार कुछ यथार्थ, कुछ कल्पना और कुछ आशा-आशंका का मिश्रण होता है उसी प्रकार पुराण कथाओ मे भी पाया जाता है। स्वप्नों से व्यक्ति की अन्तर्निहित प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है उसी प्रकार पुराण कथाओ से समाज की अन्तर्निहित प्रवृत्तियो का सकेत मिलता है। बौद्ध व जैन परपरा मे प्रारभिक युग मे आगम एव त्रिपिटक मे महावीर और बुद्ध के जीवन और पूर्वभवो की कथायें प्रकीर्ण रूप मे है। बाद मे एक साहित्य प्रकार के रूप मे जैन परंपरा मे पुराण कथाओ को प्रथमानुयोग यह नाम मिला। विमल का पउमचरिय, सघदास-धर्मसेन की वसुदेवहिण्डी और शीलांक का चउपन्नमहापुरिसचरिउ ये प्राकृत में प्रथमानुयोग के मुख्य ग्रथ है। सस्कृत में रविषेण का पद्मचरित, जिनसेन का हरिवंशपुराण और जिनसेन (द्वितीय) तथा गुणभद्र का महापुराण ये प्रथमानुयोग के मुख्य ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त हरिषेण, श्रीचन्द्र आदि के कथाकोश भी महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध परपरा मे प्रथमानुयोग जैसा शब्द तो नही है परन्तु विस्तृत कथासाहित्य अवश्य है। पालि में जातक और सस्कृत में अवदानशतक, दिव्यावदान, ललितविस्तर आदि बौद्ध कथा साहित्य के मुख्य ग्रन्थ हैं। इस लेख में हम इन दो धाराओ में प्राप्त कुछ सामान्य धारणाओ के साम्य-वैषम्य पर विचार करेंगे।

२. दीर्घ आयु

मानवों की आयु प्राचीन समय मे बहुत अधिक हुआ करती थी यह दोनों परपराओं की धारणा है। दिव्यावदान के सघरक्षितावदान के अनुसार काश्यप बुद्ध के समय लोगों की आयु बीस हजार वर्ष थी,[1] चन्द्रप्रभबोधिसत्त्वावदान के अनुसार उस बोधिसत्त्व के समय की मनुष्यायु चवालीस हजार वर्ष थी।[2] भविष्यकाल में दीर्घ आयु होगी ऐसी भी धारणा थी। दिव्यावदान के मैत्रेयावदान के अनुसार जब मैत्रेय बुद्ध होंगे तो मनुष्यायु अस्सी हजार वर्ष होगी।[3] जैन धारणा में ये सख्यायें काफी अधिक है। प्रथम तीर्थङ्कर वृषभदेव की आयु चौरासी लक्ष पूर्व[4] और अठारहवें तीर्थङ्कर अरनाथ की आयु चौरासी हजार वर्ष कही गई है,[5] इसी प्रकार भविष्यकाल के तीर्थङ्करों की आयु क्रम से बढ़ती हुई बताई गई है।[6]

३. तीर्थङ्करत्व या बुद्धत्व

दोनों परंपराओ की धारणा है कि वर्तमान के समान भूतकाल और भविष्यकाल में बहुत से तीर्थङ्कर या बुद्ध हुए और होंगे। जैन परपरा में तीनो कालो में चौबीस तीर्थङ्करों का कथन है। अवदानों में बुद्धों की संख्या बहुत अधिक है। बुद्ध या स्तूप की पूजा या उनको दिये गये दान से विशुद्धचित्त होकर कोई प्राणी मैं बुद्ध बनूं इस प्रकार चित्तोत्पाद करता है यह अवदानों में बुद्धत्व प्राप्ति की प्रक्रिया के प्रारभ का प्रकार है।[7] जैन पुराणों में तीर्थङ्कर प्रकृति के बन्ध के लिए ऐसी कोई विशिष्ट घटना को निमित्त नही बताया गया है—सामान्य रूप से तपस्या से या दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं से तीर्थङ्करत्व की प्रक्रिया का प्रारंभ बताया गया है।[8]

४. बुद्धकृपा

तीर्थङ्कर और बुद्ध महान् लोकोपकारक है, इस विषय मे दोनों परपराओ की धारणा समान है। परन्तु अवदानों मे दुःखित भक्तो की पुकार सुन कर बुद्ध स्वयं या इन्द्र को आदेश देकर भक्तों को दुःखमुक्त करते बताये गये हैं।[9] जैन पुराणो मे इस प्रकार तीर्थङ्करों की प्रत्यक्ष सहायता का वर्णन नहीं है—उनके उपदेश या भक्ति से प्राप्त पुण्य से दुःखमुक्ति बताई गई है। अपवाद रूप मे जिनप्रभ के विविध तीर्थकल्प मे अश्वावबोध तीर्थकल्प में बताया गया

है कि भरुकच्छ के राजा के घोड़े को जब अश्वमेध में बलि दिया जा रहा था तब उसके उद्धार के लिए मुनि-सुव्रत तीर्थङ्कर प्रतिष्ठान नगर से एक रात्रि में साठ योजन चलकर भरुकच्छ पहुंचे और उस अश्व को पूर्व जन्म कथा सुनाकर प्रतिबोधित किया।[१०]

तिर्यंच प्रतिबोध

अश्वावबोध के समान अन्य अनेक जैन कथाओं मे पशु-पक्षी नमस्कार मंत्र या उपदेश श्रवण से प्रतिबोधित होते बताये हैं। पार्श्वनाथ कथा में नाग-नागिनी मरणासन्न स्थिति में राजकुमार पार्श्व का उपदेश सुनकर देवपद प्राप्त करते है।[११] जीवन्धर कथा मे एक कुत्ता जीवधर से नमस्कार मंत्र सुनकर यक्षपद प्राप्त करता है।[१२] इसी प्रकार बौद्ध कथाओं में भी पशु-पक्षियो के उद्धार के प्रसग वर्णित हैं। दिव्यावदान के शुकपोतकावदान मे दो तोतों का वर्णन है जो बिल्ली द्वारा पकड़ जाने पर नमो बुद्धाय कहते हुए प्राण त्याग कर देवपद पाते है।[१३] इसी ग्रन्थ के अशोकवर्णावदान के अनुसार वैशाली मे मारा जा रहा एक बैल बुद्ध की कृपा से मुक्त होता है और अगले जन्म में प्रत्येक बुद्ध होता है।[१४]

६. निदान

जैन कथाओं मे तपस्वी अपने तप का अमुक फल प्राप्त हो ऐसी इच्छा करे उसे निदान कहा गया है। सुभौम चक्रवर्ती की कथा,[१५] त्रिपृष्ठ नारायण की कथा,[१६] कंस की कथा[१७] आदि में इसके उदाहरण बताये गये हैं। बौद्ध कथाओं मे ऐसे सकल्प को मिथ्या प्रणिधान कहा गया है। दिव्यावदान के कोटिकर्णावदान के अनुसार एक उपासिका का पुण्य इतना अधिक था कि वह त्रायस्त्रिंश देवो में उत्पन्न होती परन्तु मिथ्या प्रणिधान के कारण वह प्रेत-महर्धिका बनी।[१८] बौद्ध कथाओं में प्रणिधान शुभ रूप में भी वर्णित है। जैसाकि ऊपर बताया है—मैं बुद्ध बनूं ऐसे चित्त के उत्पाद से बुद्धत्व की प्रतिक्रिया प्रारम्भ होती है। दिव्यावदान के मैत्रेयावदान में शख चक्रवर्ती का प्रसंग है जिसने पूर्व जन्म में मैं चक्रवर्ती बनूं ऐसा संकल्प किया था।[१९]—इसमें अशुभत्व का कथन नहीं है।

७. स्त्रियों की हीनतर स्थिति

यद्यपि दोनों परम्पराओं में समता का बड़ा सम्मान है तथापि स्त्रियों के विषय में दोनों की धारणा अनुदार है। बौद्ध ग्रंथ सद्धर्मपुण्डरीक में कहा गया है कि ब्रह्मपद, शक्र पद, महाराजपद, चक्रवर्तिपद और बुद्धपद स्त्री पर्याय में प्राप्त नही होते।[२०] जैन परपरा का भी इस विषय में प्राय: यही मत है। अपवाद रूप में श्वेतांबर परंपरा में मल्लि तोर्थंकर को अवश्य स्त्री बताया गया है।[२१] जैसाकि सुविदित है—स्त्रियों की मुक्ति प्राप्ति श्वेतांबर और दिगबर संप्रदायों में विवाद का विषय रहा है।

८. देवस्थिति

जैन कथाओं में तीर्थंकरों के और बौद्ध कथाओं में बुद्धों के दर्शन-पूजन के लिए देवों के आगमन का वर्णन प्राय: मिलता है।[२२] अन्तर यह है कि अवदानो में बुद्ध के आदेश से देवराज वर्षा कर भक्तों को दु:खमुक्त करते है या धन देकर किसी बैल को बचाते हैं।[२३] तीर्थंकरों की कथाओं में देवों को ऐसे कोई कार्य करने को नहीं कहा गया है। दिव्यावदान के मांधातावदान में त्रायस्त्रिंश देवों की आयु मनुष्यों की गणना से ३६०००० वर्ष बताई है।[२४] स्पष्ट है कि जैन कल्पना इस विषय में काफी बढ़ी-चढ़ी है जिसमें देवों की न्यूनतम आयु दस हजार वर्ष और अधिकतम तैंतीस सागर बताई गई है।[२५] मांधातावदान में देवलोक सुमेरु पर्वत के ऊपर बताया गया है।[२६] जैन कल्पना भी वही है।[२७] परन्तु इस अवदान में राजा मांधाता देवलोक में जाकर इन्द्र के अर्धासन पर बैठने का सम्मान प्राप्त करता है।[२८] ऐसी बात जैन कथाओं में संभव नही है। दिव्यावदान के नगरावलम्बिकावदान आदि में वर्णन मिलता है कि देवों का ज्ञानदर्शन अपने स्थान से नीचे प्रवृत्त हो सकता है—ऊपर नही।[२९] जैन कथाओं में भी इसी आशय का वर्णन मिलता है।[३०] जैन कथाओं में देव अपनी नियत आयु पूर्ण होने के बाद नियत गति में जन्म लेते बताये गये हैं। देवगति में वे उत्तरकालीन गति में परिवर्तन नहीं कर सकते।[३१] इसके विपरीत दिव्यावदान के सूकरिकावदान में कथन है कि एक देव जो सूकर योनि में उत्पन्न होने वाला

(शेष पृष्ठ २७ पर)

ज्ञान प्राप्ति के उपाय :

अवग्रहेहावायधारणा:*

□ डा० नंदलाल जैन

सामान्य जनता में धार्मिक वृत्ति को जगाये रखने के लिये अनेक पुरातन आचार्यों ने समय-समय पर उपयोगी धर्म ग्रन्थों की रचना की है। इनका मुख्य विषय 'सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' ही होता है। वस्तुतः मोक्ष और उसका मार्ग साधु-जन सुलभ होता है, सामान्य जन के लिये तो गृहस्थ मार्ग ही प्रमुख है। जिन गृहस्थो के ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्य कर्मों का जितना अल्प बंध या उदय होता है, वे उतना ही मोक्षमाग की ओर प्रवृत्त होते हैं। यद्यपि 'निर्वाणकांड' मे मुक्तों की अपरमेय संख्यायें निरूपित की गई है, फिर भी पिछले पच्चीस-सौ वर्षों में कितने मोक्षगामी हुए है, इसका कोई विवरण उपलब्ध नही है। फिर भी, मुक्ति मे एक मनोवैज्ञानिक आकर्षण है, शुभत्व की ओर बढने की प्रेरणा है। यह मार्ग निसर्गज भी बताया गया है और अधिगमज भी।[1] निसर्गज मार्ग विरल ही दृष्टिगोचर हुआ है। इसलिये इसके अधिगम के विषय मे शास्त्रो मे पर्याप्त वर्णन आया है। इसके एक लघु अंश पर ही यहा विचार किया जा रहा है।

अधिगम के लिये विषय वस्तु के रूप मे सात तत्व और नव पदार्थों का निरूपण किया गया है। इनका अधिगम प्रमाण और नयो से किया जाता है।[2] इनका विवरण अनुयोग द्वार मे विशेष रूप से दिया जाता है। पदार्थों का अध्ययन सामान्य या विशेष अपेक्षाओं से छह या आठ अनुयोग द्वारो[3] के रूप मे किया जाता है। यह अध्ययन ही ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान सामान्य जन को इन्द्रिय, मन और भुज की सहायता से होता है। योगिजन अथवा महात्माओं को यह ज्ञान आत्मानुभूति के माध्यम से भी प्राप्त हो सकता है जहाँ उन्हें बाह्य साधनो की आवश्यकता नही पड़ती। संसारी जीव ही क्रमिक विकास करते हुए योगी होता है, फलतः उसका ज्ञान-विकास भी बाह्य-साधन-प्रमुख विधि से आगे चल कर अन्तर्मुखी हो जाता है, ऐसा मानना चाहिये। सामान्य जन की ज्ञान-प्राप्ति के लौकिक साधनो के रूप मे इन्द्रिया और मन सुज्ञात है। इनकी सहायता से प्राप्त ज्ञान को मतिज्ञान कहते है। इस प्रकार, सामान्य जन मति और श्रुत—दो ज्ञानो से ही आगे बढता है। श्रुतज्ञान स्वय या दूसरों के मतिज्ञान का रिकार्ड है। मतिज्ञान स्वय का अपना प्रयोग और दर्शन-जन्य ज्ञान है। एक वैज्ञानिक भी इन्हीं दो ज्ञानो से वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रारंभ, विकास और पुनर्निर्माण करता है। श्रुतसागर सूरि ने बताया है कि यह ज्ञानमार्ग ही हमारे लिये सरल, परिचित और अनुभवगम्य है।[4]

मतिज्ञान के नाम—

मैं सर्वप्रथम अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान-मतिज्ञान की बात करू। उमास्वामी ने इसके अनेक नाम बताये हैं—स्मृति, सज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध आदि आगम ग्रन्थों मे मति के बदले अभिनिबोध का ही नाम आता है, कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम मतिज्ञान के नाम से इसका निरूपण किया। उमास्वामी ने इसके अनेक रूपो को वर्णित किया। इसके अंतर्गत अनेक मनोप्रधान या बुद्धिप्रधान प्रवृत्तियां भी मति मे ही समाहित होती है।[5] यह वर्तमान को ग्रहण करता है, इस आधार पर स्मृति आदि को मतिज्ञान नही माना जाना चाहिये था। क्योंकि इनमे अतीत का भी सबध रहता है। फिर भी अकलंक[6] ने इन्हे मनोमति मान कर सामान्य मतिज्ञान के रूप मे ही बताया है। वस्तुतः इस आधार पर स्मृति, सज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क,

* जैन विद्या सगोष्ठी, उज्जैन, १९८० मे पठित निबंध का परिवर्धित रूप।

कार्यकारण भाव), और अभिनिबोध (अनुमान व्याप्ति-ज्ञान) को जिन दार्शनिकों ने पृथक् प्रमाण माना है, उनका निरसन कर जैनों ने इन सभी को मतिज्ञान में समाहित कर लिया। भट्टाचार्य[7] ने चिन्ता और अभिनिबोध को वर्तमान आगमन और निगमन तर्क शास्त्र के समरूप बताकर पाश्चात्य तर्कशास्त्र की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया है।

उमास्वामी के मतिज्ञान के अनर्थान्तरों के दिग्दर्शक सूत्र की टीकाओं में अनर्थान्तरत्व (पर्यायवाची) पद पर अनेक प्रकार के प्रश्नोत्तर किये गये है। इनमे इसी सूत्र में वर्णित 'इति' शब्द को इत्यादि वाचक, प्रकार वाचक या (अभिधेयार्थवाचक) के रूप में माना है। जब 'इति' को इत्यादि वाचक मानते है, तब मतिज्ञान के कुछ अन्य पर्यायवाची भी बताये जाते हैं इनमे प्रतिभा, बुद्धि मेधा, प्रज्ञा समाहित होते हैं।[8] इन सभी पर्यायवाचियों के विशेष लक्षण पूज्यपाद ने तो नही दिये है पर अकलंक और श्रुतसागर ने दिये है। इनके अनुसार, मतिज्ञान के इन विभिन्न नामरूपों से उसकी व्यापकता तथा क्षेत्रीय विविधता का स्पष्ट आभास होता है क्योंकि प्रत्येक नाम एक विशिष्ट अर्थ और वृत्ति को प्रकट करता है।

मतिज्ञान की प्राप्ति के चरण—

सामान्य जन को मतिज्ञान कैसे उपलब्ध होता है ? इस विषय पर ध्यान जाते ही उमास्वामी के दूसरी सदी के 'तत्त्वार्थसूत्र' का 'अवग्रहेहावायधारणाः' (१,१५) स्मरण हो आता है। यद्यपि आगम ग्रन्थो मे भी इनका उल्लेख पाया जाता है,[9] (इससे इनकी पर्याप्त प्राचीनता सिद्ध होती है), पर साधारण जन के लिये तो 'तत्वार्थसूत्र' ही आगम रहा है। सचमुच मे, सैद्धान्तिक आधार पर यह सूत्र एवं इसकी मान्यता सर्वाधिक वैज्ञानिक है। इस मान्यता मे ज्ञान प्राप्ति के लिये वे ही चरण बताये गये है जो आज के वैज्ञानिक चौदहवी सदी मे अपने पर-अनुभव से बता सके। काश, इन्हें हमारे आगम और तत्वार्थ सूत्र मिले होते ?

इस सूत्र के अनुसार, मतिज्ञान प्राप्ति के पांच चरण होते हैं—प्रथम, इन्द्रिय और पदार्थों के प्रत्यक्ष या परोक्ष सपर्क से निराकार दर्शन, फिर साकार सामान्य ज्ञानात्मक अवग्रह, फिर किंचित् मन का उपयोग कर विचार-परीक्षण करने से वस्तु विशेष का अनुमान—**ईहा**, इन्द्रिय-सबद्ध वस्तु विशेष का उपलब्ध तथ्यों और विचारों के आधार पर निर्णय—**अवाय** या अपाय, और तब उसे भावी उपयोग के लिये ध्यान, स्मरण मे रखना—**धारणा**। ये क्रमिक चरण हैं, पूर्वोत्तरवर्ती हैं। इन्ही चरणों को वैज्ञानिक जगत अपनी स्वय की पारिभाषिक शब्दावली[10] मे निम्न प्रकार व्यक्त करता है :

१. प्रयोग और निरीक्षण	दर्शन और अवग्रह
२. वर्गीकरण	ईहा
३. परिणाम निष्कर्ष, उपपत्ति	अवाय
४. नियम सिद्धान्त	धारणा

इनमें से प्रथम चरण को छोड़ अन्य चरणों मे मन और बुद्धि की प्रमुखता बढती जाती है। तुलनात्मक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे यहां धारणा शब्द का अर्थ कुछ सीमित अर्थों मे किया गया है। वस्तुतः यह शब्द अनेकार्थक है और इसे केवल स्मरण मात्र नही मानना चाहिये। इसे उपरोक्त चार चरणों से प्राप्त इन्द्रिय और मन के उपयोग से निष्कर्षित ज्ञान के व्यापकीकरण या सैद्धान्तिक निरूपण के समकक्ष एव श्रुत के आधार के रूप में मानना चाहिए। यही परिभाषा इसे नियम या सिद्धान्त के समकक्ष ला देती है। इस प्रकार ज्ञानप्राप्ति की वर्तमान चतुश्चरणी वैज्ञानिक पद्धति 'अवग्रहेहावायधारणाः' का नवीन सस्करण ही है। इस पर आधारित धर्म या दर्शन को वैज्ञानिकता प्राप्त हो, इसमें आश्चर्य नही करना चाहिये।

मतिज्ञान के भेद और सीमायें—

शास्त्रो में अवग्रह आदि को मतिज्ञान के भेद के रूप में माना गया है। इसमें अवग्रह का विशेष वर्णन है क्योंकि यह हमारे ज्ञान का प्रथम और मूलभूत चरण है। यह श्रुत निःसृत और अश्रुत अनिःसृत के रूप में दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है।[11] यह व्यक्त रूप से और अव्यक्त रूप से भी उत्पन्न हो सकता है। अव्यक्त अवग्रह चक्षु और मन को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों के कारण ही होता है अव्यक्त अवग्रह दर्शन की समतुल्यता प्राप्त कर सकता है, ऐसा भी कहा गया है। अवग्रह के विपर्यास में,

ईहादिक चरण व्यक्त रूप में ही होते है। मतिज्ञान से पदार्थों की जिन विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है, उनकी संख्या १२ बताई गई है :[13]

१-२ बहु और अल्प	संख्या तथा परिणाम (भार) द्योनक
३-४ बहुविध और एकविध	पदार्थो के विविध जातीय रूपो की संख्या तथा परिमाण
५-६ क्षिप्र और अक्षिप्र	वेग शील और मन्द पदार्थ का बोधक
७-८ अनिःसृत और निःसृत	अप्रकट या ईषत् प्रकट और प्रकट पदार्थ बोधक
९-१० अनुक्त और उक्त	अभिप्रेत या कथित पदार्थ बोधक
११-१२ ध्रुव और अध्रुव	पदार्थ की एकरूपता व परिवर्तनीयता का द्योतक

इन विशेषताओं के देखने से पता चलता है कि मतिज्ञान से पदार्थ के केवल स्थूल गुणो का ही ज्ञान होता है, आतंरिक संघटन या अन्य नैमित्तिक गुणों का नही। इससे हमे प्राचीन मतिज्ञान की सीमा का भी भान होता है। यही नही, उपरोक्त बारह विशेषताओ मे अनेक में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। जिनका सतोषजनक समाधान शास्त्रीय भाषा से नही मिलता।[13] फिर भी, मतिज्ञान के १२×४×६ (५ इन्द्रिय+१ मन)=२८८ और व्यजनावग्रह के १२×४ (चार इद्रिय)=४८=३३६ भेद शास्त्रों में किये गये हैं। इसस सीमित मतिज्ञान की पर्याप्त असीमता का पता चलता है। इसकी तुलना मे, यह कहा जा सकता है कि सूक्ष्मतर निरीक्षण क्षमता के इस उपकरण प्रधान युग मे मतिज्ञान की सीमा मे काफी वृद्धि हो चुकी है। अब इससे बहिरंग के अवग्रहादिक के साथ अंतरंग के अवग्रहादिक भी सम्भव हो गये हैं। मतिज्ञान के क्षेत्र में पिछले दो सौ वर्षो के विकास ने हमारे पदार्थ विषयक शास्त्रीय विवरणों को काफी पीछे कर दिया है।

ज्ञान के क्षितिजों एवं सीमाओं का विकास—

यह बताया जा चुका है कि सामान्य जन की ज्ञान-प्राप्ति दो प्रकार के ज्ञानों से होती है—मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान की परिभाषा शास्त्रों में अनेक प्रकार से की गई है। कुछ लोग श्रवणेन्द्रिय प्रधानता के आधार पर श्रुत को मतिज्ञान मानना चाहते है, पर यह सही नही है। अकलंक[14] ने साहचर्य, एकत्रावस्थान, एकनिमित्तता, विषय साधारणता तथा कारण-कार्य सदृशता के आधार पर मति-श्रुत की एकता का खंडन करते हुए बताया है कि श्रुतज्ञान मनोप्रधान है, इन्द्रियप्रधान नही। वह त्रिकालवर्ती तथा अपूर्व विषयों का भी ज्ञान कराता है। उसमें बुद्धिप्रयोग के कारण पदार्थों की विशेषताओं, समानताओं एव विषमताओ के अपूर्व ज्ञान की भी क्षमता है। यह सही है कि श्रुतज्ञान का आधार मतिज्ञान ही है, लेकिन यह देखा गया है कि श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान की सीमायें बढाने में सहायक होता है। शास्त्री[15] ने श्रुतज्ञान से० श्रुतज्ञान की भी औपचारिक उत्पत्ति मानी है। इसीलिये जो सुना जाय, जिस साधन से सुना जाय या श्रवण क्रिया मात्र को पूज्यपाद और श्रुतसागर ने श्रुत कहा है। अकलंक ने इस परिभाषा में एक पद और रखा—श्रूयते स्मेति, जो सुना गया हो, वह भी श्रुत है।[16]

यह श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। साधारणतः श्रुत को अक्षरात्मक एव भाषा रूप माना जाता है। प्रारंभ में यह कण्ठगत ही विकसित हुआ पर यह समय-समय पर लिखित और मुद्रित रूप में प्रकट होता रहा है। वस्तुतः आज की भाषा में अक्षरात्मक श्रुत विभिन्न प्रकार के मतिज्ञानों से उत्पन्न धारणाओ का रिकार्ड है जिससे मानव के ज्ञान के क्षितिजो के विकास में सहायता मिले। वर्तमान विज्ञान में ज्ञानार्जन के साथ उसके संप्रसारण का भी लक्ष्य रहता है। विज्ञान की मान्यता है कि ज्ञान का विकास पूर्वज्ञात ज्ञान के आधार पर ही हो सकता है। इसलिये मति से प्राप्त ज्ञान को श्रुत के रूप में निबद्ध किया जाता है। विज्ञान का यह सप्रसारण चरण ही अक्षरात्मक श्रुत मानना चाहिये। इसकी प्रामाणिकता इसके कर्ताओं पर निर्भर करती है : उनकी निरीक्षण-परीक्षण पद्धति से प्राप्त निष्कर्षों की यथार्थता पर निर्भर करती है। अकलंक[17] ने श्रुत की प्रामाणिकता के लिये अविसवादकता तथा अवंचकता के गुण माने हैं। इस आधार पर उन्होंने

'आप्त' की बड़ी ही व्यापक परिभाषा दी है और आचार्यो के रचित ग्रन्थों और उसके अर्थबोधो को भी प्रामाणिकता की कोटि में ला दिया है। यही नही, यो यत्र अविसंवादक: स तत्र आप्त:। तत: परोऽनाप्त:। तत्वप्रतिप दनमविसवाद:, तदर्थज्ञानात् ११' के अनुसार वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा लिखित श्रुतों को भी प्रामाणिकता प्राप्त होती है। फलत: नवीन श्रुत में नये अवाप्त ज्ञानक्षितिजो का समाहरण किया जाना चाहिये। यह आज के युग की एक अनिवार्य आवश्यकता है। वर्तमान प्राचीन श्रुत की प्रामाणिकता पर अकलंक के मत का विशेष प्रभाव नही पड़ता। उनके प्रणेताओं ने परपराप्राप्त ज्ञान को स्मरण, मनन और निदिध्यासन के आधार पर लिखा है। यही नही, उन्होंने विभिन्न युगों में उत्पन्न सैद्धान्तिक एव तार्किक समस्याओं के लिये परिवर्धित एवं योगशील व्याख्यायें दी हैं जो उनके मनन और अनुभूति के परिणाम हैं। इनसे अनेक भ्रान्तियाँ भी दूर हुई है। विशेषावश्यक भाष्य और लघीयस्त्रय में इन्द्रिय ज्ञान को लौकिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकृति, वीरसेन द्वारा स्पर्शनादि इन्द्रियो की प्राप्यकारिता—अप्राप्यकारिता की मान्यता, अष्टमूल गुणों के दो प्रकार, प्रमाण के लक्षण का क्रमिक विकास, काल की द्रव्यता आदि तथ्य वस्तुतत्व निर्णय में जैनाचार्यों द्वारा परीक्षण और चिन्तन की प्रवृत्ति की प्रधानता के प्रतीक हैं। इसीलिये आचार्य समंतभद्र को 'परीक्षा प्रधानी' कहा जाता है। स प्रक्रिया में इन्द्रिय और बुद्धि का क्रमश: अधिकाधि.. उपयोग किया जाता है इस प्रकार हमारे विद्यमान श्रुत परीक्षण प्रधान है, वैज्ञानिक है।

वैज्ञानिक ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया की एक और विशेषता होती है। यद्यपि यह पूर्वज्ञात ज्ञान या श्रुत से विकसित होती है, पर यह पूर्वज्ञात ज्ञान की वैधता का परीक्षण भी करती है। उसकी वैधता का पुनर्मूल्याकन करती है। सामान्यत: वैज्ञानिक ज्ञान का प्रामाण्य परत: ही अधिक समीचीन माना जाता है। हमारे शास्त्रों में ज्ञान की उत्पत्ति और ज्ञप्ति की दशाओ के प्रामाण्य के स्वत:परत: के सबंध में पर्याप्त चर्चा पाई जाती है। हिरोशिमा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ए० यूनो इस विषय पर विशेष अनुसंधान कर रहे है।[१८] यह स्पष्ट है कि सर्वज्ञ और स्वानुभूति के ज्ञान को छोड़कर ज्ञान का प्रामाण्य परत: ही माना जाता है। इस प्रकार हमारा श्रुतनिबद्ध ज्ञान वर्तमान सदी की विश्लेषणात्मक धारा के निकष पर कसा जा सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि जैन दर्शन की अनेक पुरातन मान्यतायें, विशेषत: पदार्थ की परिभाषा, परमाणुवाद की मान्यतायें, ऊर्जा और द्रव्य की एकरूपता आदि—इस निकष पर कसे जाने पर पर्याप्त मात्रा में खरी उतरी है यही कारण है कि आज अनेक विद्वान् जैन दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रेरित हो रहे है और जैन विद्या के अनेक अज्ञात पक्षो को उद्घाटित कर रहे हैं।

श्रुतज्ञान का अनक्षरात्मक रूप भी हमारे ज्ञानार्जन में सहायक है। इसके असंख्यात भेद होते है।[१९] संकेत दर्शन, मानसिकचिन्तन तथा ऐसे ही अन्य प्रक्रमो से जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुतात्मक होता है आज जो श्रुतविद्यमान है, उसके विविध रूपो का विवरण गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि आदि में दिया गया है। वस्तुत: विभिन्न श्रुत श्रुतज्ञान के साधन है। ज्ञान के रूप मे श्रुतज्ञान मतिज्ञान की सीमा का विस्तार करता है, उसमें बौद्धिक नवीनता लाता है।

इस प्रकार सामान्य जन का वर्तमान ज्ञान 'अवग्रहेहावायधारणा:" की प्रक्रिया पर आधारित है। यह प्रक्रिया जितनी ही सूक्ष्म, तीक्ष्ण और यथार्थ होगी, हमारा ज्ञान उतना ही प्रमाण होगा। आज उपकरणों ने अवग्रह की प्रक्रिया में अपार सूक्ष्मता तथा विस्तार ला दिया है। लेकिन दुर्भाग्य से हमारे यहाँ आचार्य नहीं है जो इस क्षमता का उपयोगकर नये श्रुत का उद्घाटन कर सकें।

सन्दर्भ

१. उमास्वामि आचार्य; (तत्वार्थसूत्र, १-३, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, २६५०।

२. उमास्वामि, आचार्य; पूर्वोक्त, १-६।

३. उमास्वामि, आचार्य; पूर्वोक्त, १-७, ८।

४. श्रुतसागर सूरि; (तत्वार्थवृत्ति) १-६, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १६४६ ।
५. फूलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री (वि० क०); (तत्वार्थसूत्र) १-१३, वर्णी ग्रन्थमाला, १६५० ।
६. अकलंक देव; (लघीयस्त्रय), श्लोक ६६-६७ ।
७. भट्टाचार्य, हरिसत्य; जैन विज्ञान, (अनेकान्त),
८. शास्त्री, ए० शान्तिराज (स०); (तत्वार्थसूत्र) (१-१३), (भास्करनंदि टीका), मैसूर विश्ववि० १६३४।
९. — (भगवतीसूत्र (८८,२,३१७)
१०. पीमेन्टेल, जार्ज; (रसायन एक प्रयोगात्मक विज्ञान) १-१० म० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १६७३ ।
११. दलसुख मालवणिया; (आगमयुग का जैन दर्शन), पृ० १२६-३५, सन्मति ।
१२. उमास्वामि आचार्य; (तत्वार्थसूत्र) १-१५ १६ ज्ञानपीठ आगरा, १६३६ ।
१३. अकलंकदेव; (तत्वार्थराजवार्तिक, १-१६, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १६६४ ।
१४. अकलंकदेव; पूर्वोक्त, १-६
१५. फूलचंद शास्त्री (वि० क६); सन्दर्भ ४, सूत्र १-२० ।
१६. अकलंक देव; पूर्वोक्त, १-६ ।
१७. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य; (जैन दर्शन), पृष्ठ ३५३, वर्णी ग्रन्थमाला, काशी, १६६६ ।
१८. ए० यूनो; (जैन प्रामाण्यवाद पर एक टिप्पणी) (कैलाशचद्र शास्त्री अभिनदन ग्रन्थ) पृष्ठ ५४८, १६८० ।
१९. नेमचद सिद्धान्त चक्रवर्ती; गोमटसार जीवकांड, तथा गाथा ३१६, परमश्रुत प्रभावकमडल, अगास, १६७२ ।

गर्ल्स कालेज, रीवां

(पृष्ठ २२ का शेषांश)

था— शक्र के उपदेश से बुद्ध की शरण में पहुचा जिससे उसकी गति में सुधार होकर वह तुषित देवनिकाय में उत्पन्न हुआ।[३२]

सन्दर्भ

१. दिव्यावदान (दरभगा संस्करण) पृ० २१५ ।
२. वही पृ० १६६ ।
३. वही पृ० ३६ ।
४. हरिवंश पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) पृ० २१४ ।
५. उत्तर पुराण (भारतीय ज्ञानपीठ सस्करण) पृ०२१६
६. वही पृ० ५६१ ।
७. दिव्यावदान पृ० ४० आदि ।
८. उत्तरपुराण पृ० २, १४ आदि ।
९. दिव्यावदान पृ० ५६, ८५ आदि ।
१०. विविधतीर्थकल्प (सिंधी ग्रथमाला सस्करण) पृ० २०
११. उत्तरपुराण पृ० ४३६ ।
१२ वही पृ० ५०३ ।
१३. दिव्यावदान पृ० १२४ ।
१४. वही पृ० ८६ ।
१५. उत्तरपुराण पृ० २२२ ।
१६. वही पृ० ८५ ।
१७. वही पृ० ३६२ ।
१८. दिव्यावदान पृ० ६ ।
१९. वही पृ० ३६ ।
२०. सद्धर्मपुण्डरीक (दरभंगा संस्करण) पृ० १६१ ।
२१. चउपन्न महापुरिसचरिय (प्राकृत ग्रन्थ परिषद) पृ० १६६ ।
२२. दिव्यावदान पृ० ४८ उत्तरपुराण पृ० ३ आदि ।
२३. दिव्यावदान पृ० ८५, अवदानशतक (दरभगा सस्करण) पृ० ३४ ।
२४. दिव्यावदान पृ० १३६ ।
२५. पासणाहचरिउ (प्राकृत ग्रंथ परिषद) पृ० १४१-२
२६. दिव्यावदान पृ० १३६ ।
२७. हरिवंशपुराण पृ० १२३ ।
२८. दिव्यावदान पृ० १३७ ।
२९. वही पृ० ५२ ।
३०. हरिवंशपुराण पृ० १२६ ।
३१. इसका स्पष्ट कथन तो कथाग्रंथों में नहीं मिला परंतु देव मरण के बाद मनुष्य या तिर्यंच गति में ही जन्म लेते बताये गये हैं ।
३२. दिव्यावदान पृ० १२० ।

□□□

णमोकार मंत्र

□ श्री बाबूलाल जैन

महान मंत्र है णमोकार। इस मंत्र मे किसी व्यक्ति का, किसी तीर्थंकर का नाम नही लिया। नाम लेने से पक्षपात खड़ा हो जाता है। कोई कहता यह पूजनीय है, कोई कहता यह पूजनीय नही है। इसलिए व्यक्ति का ख्याल छोडकर मात्र वस्तु स्वरूप का ही ख्याल रखा गया। इसीलिये यह मंत्र अनादि अनिधन है।

(१) पहले णमो अरहंताणम् कहा अथवा जो अरहत हो गये हैं उनको नमस्कार है। अरहंत अवस्था को प्राप्त हैं यानी जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये है उनको नमस्कार है, वह कोई भी हो, उनका कुछ भी नाम हो, इससे मतलब नहीं, हमे तो मतलब है केवल उन आत्माओं से जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये है। यहाँ पर नास्ति रूप से कथन है। नेगेटिव रूप से कथन है कि जिनके आत्मिक शत्रु नष्ट हो गये है वह हमारे नमस्कार करने योग्य है। आत्मिक शत्रु कौन है ? तो बताया कि क्रोध-मान-माया लोभ अथवा रागद्वेष अथवा मोह, ये आध्यात्मिक शत्रु है। यह कोई बाहरी चीज नही जो नष्ट हुआ है, यह तो आत्मा का अपना विकार था, रोग था, जो नष्ट हो गयी है। वह मेरे नमस्कार करने योग्य क्यो है ? क्योकि मैं भी चाहता हूँ कि मेरे भी आत्मिक शत्रु नष्ट हो जायें। असल मे आत्मा की अशुद्धता ये रागादि ही हैं। इनका अभाव होना ही आत्मा की शुद्धता है, रागादि ही आत्मा का रोग है, अस्वस्थता है, उनका अभाव ही स्वस्थता है इसलिए यहाँ पर उनको नमस्कार किया है जिन्होने आत्मा की अस्वस्थता और अशुद्धता को नष्ट कर दिया। क्योकि मैं भी आत्मिक रूप से रोगी हूं अस्वस्थ हू, और मैं भी अपनी अस्वस्थता को नष्ट करना चाहता हू, इसलिए मेरे लिए वही नमस्कार करने योग्य पूज्य हो सकता है जिसने इनको नष्ट किया है। जिनके अन्तर्द्वन्द नही रहा—लोभ नही रहा—मान नही रहा—मोह नही रहा—काम नहीं रहा, उनको नमस्कार किया गया है। साथ मे यह भी मिश्रित है कि जब उन्होने नाश किया तो मैं भी नाश कर सकता हूं।

(२) णमो सिद्धाणम् यानी सिद्धों को नमस्कार है। सिद्ध यानी जिन्होंने पा लिया है अपनी स्वस्थता को, आत्मिक स्वस्थता को। अरहन्त जिन्होने छोडा है, सिद्ध जिन्होने पा लिया है, जिनको उपलब्धि हो गयी है। यहाँ पर भी किसी का नाम नही है, किसी व्यक्ति विशेष की बात नही है। यहा पर बात है कि जिसने आत्मिक गुणो को प्राप्त कर लिया है, जो शुद्धता को प्राप्त हो गये है, जिन्होने अस्वस्थता का नाश करके शुद्धता को, स्वस्थता को पा लिया है, वे नमस्कार करने योग्य है। वे कैसे गुणों को प्राप्त हुए है ? जो ज्ञान की पूर्ण शुद्ध विकसित अवस्था—केवल ज्ञान को प्राप्त हो गये है। जो दर्शन यानी दृष्टि के पूर्ण शुद्ध विकास को केवलदर्शन को प्राप्त हुए है। जो पूर्ण आत्मिक आनन्द को, स्वाधीन आनन्द को प्राप्त हो गये है, आत्मिक शक्ति जिनकी पूर्ण प्रगट हो गया है। जो शरीर से रहित हो गये है, जिनमे अब कोई सस्कार नही बचा जिसमे फिर जन्म लेने का सवाल पैदा हो नही सकता। जिनके आयु का सम्बन्ध नही रहा, जो शरीर की स्थिति का कारण था। जो पुण्य और पाप दोनों से रहित हो गये, जो शरीर के साथ रहने वाली इन्द्रियो से भी रहित हो गये, मात्र ज्ञान का अखण्ड पिण्ड, अनत गुणो का पिण्ड, जैसा एक अकेला आत्मा था वैसा सब सयोगों से रहित हो गया है। ऐसा आत्मा-सिद्ध आत्मा-नमस्कार करने योग्य है। इससे यह भी निश्चित होता है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है वैसा ही मेरा निज स्वरूप है। वस्तु मे तो फरक नही। मेरी आत्मा स्त्री-पुत्रादि-मकानादि शरीरादि-कर्मादि और रागादि के सयोग मे पड़ा हुआ है इसलिए मलिनता को प्राप्त है परन्तु ये

सब आत्मा की अपनी चीज नहीं है। अगर आत्मा की अपनी होती तो नष्ट नहीं होती इसलिए वर्तमान में उनका मेरा साथ संयोग है अब अगर मैं उनमे संयोग न मान कर अपनापना मानता हूं तो यह मेरी गलती है, यही चोरी है, यह अपराध है दूसरे की चीज हमारे पास मे रहने से भी हमारी नही हो सकती। हमारा अपना तो उतना ही है जो कुछ सिद्ध आत्मा के पास है। उससे जो कुछ ज्यादा मेरे पास है। वह कर्मजनित, पर रूप है; मेरा अपना नही हो सकता, उसमे अपनापना नही माना जा सकता। अगर मैंने अपनापना माना है तो यह अपराध है और उस अपराध का फल बंधन है—क्योकि वह आत्मा के अपने निज रूप में नही है। इसलिए इनका अभाव हो सकता है। कोयले की कालिमा उसकी अपनी है। बाहर से आई हुई नही। उसका अपना अस्तित्व है। वह दूर नही हो सकती। परन्तु स्फटिक मे झलकने वाली कालिमा उसकी अपनी नही, बाहर से आई हुई है। वह दूर की जा सकती है। सिद्ध वे है जिन्होने इस कालिमा का नाश किया है। इससे मालूम देता है कि यह कालिमा बाहर से आई हुई है और नाश हो सकती है। जिस प्रकार से उन्होंने पुरुषार्थ के द्वारा अपनी कालिमा नष्ट की है वैसे ही मैं भी पुरुषार्थ के द्वारा अपनी कालिमा नष्ट कर सकता हू।

(३) तीसरा, (४) चौथा और (५) पांचवा पद है—णमो आइरियाणम्—णमो उवज्झायाणम्—णमो लोए सव्व साहूणम्—

इन तीन मत्रों मे साधुओ को नमस्कार किया गया है। लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है। उन साधुओ मे तीन कोटि होती है। एक वे जो आचार्य है उनको नमस्कार है। आचार्य वे है जो निज मे आत्म-साधना करते हैं और दूसरो से आत्म साधना करवाते है। जिन्होंने आत्मा को प्राप्त किया है, निज स्वभाव को प्राप्त किया है और उसी मे लगे हुए है। अभी तक निज स्वभाव मे पूर्ण रूप से ठहरने मे, रमण करने मे, वे समर्थ नही हुए है इसलिए जो राग का अश बचा हुआ है उस राग के अश की वजह से दूसरों को आत्म साधना की प्रेरणा करते है। गुरु रूप से उनका उपकार करते है।

इसके बाद उन साधुओं मे दूसरा पद है उपाध्याय का जो निज में पठन-पाठन करते है और दूसरों को पठन-पाटन कराते हैं। ये अपना आत्म साधना मे लगे हैं। निज स्वरूप मे अभी पूर्ण स्थिरता को प्राप्त नही हुए है इसलिए बाहर मे शास्त्रादि का अध्ययन निज मे करते है और औरों को कराते हैं। यह कार्य उस राग की कणी का है जो शेष रह गयी। ऐसे उपाध्याय को मैं नमस्कार करता हूं।

उन लोक के सर्व साधुओ को नमस्कार करता हूं जिन्होंने निज आत्म-स्वरूप को प्राप्त किया है, पर से भिन्न निज स्वभाव को अपने रूप से जाना है। अपने ज्ञान स्वभाव मे ज्ञाता दृष्टापने के वे मालिक है, उसमे वे जागृत है। जागृति दो तरह से हो सकती है—

बहिर्मुखी और अंतर्मुखी। बहिर्मुखी जागृति होगी तो अंतर्मुखता अधकार पूर्ण हो जायेगी, वह मूछित हो जायेगी। अगर जागृति अतर्मुखी है तो बाहर की तरफ मूर्छा हो जायेगी। अन्तर्मुखता का अगर विकास हुआ तो तीसरी स्थिति जागृति की उपलब्ध होती है, जहाँ अन्तर मिट जाता है मात्र प्रकाश रह जाता है। वह पूर्ण जागृत स्थिति है। परन्तु बहिर्मुखता मे कोई कभी तीसरी स्थिति मे नही पहुच सकता। तीसरी स्थिति मे पहुंचने को अर्न्तमुखता जरूरी है। बाहर से भीतर आना है फिर अपने में समा जाना है। मूर्छा का अर्थ है हम बाहर है, बाहर का अर्थ है हमारा ध्यान अन्य पर है। जहाँ ध्यान है वही पर हमारी शक्ति लगी हुई है और जहाँ ध्यान नही है वहाँ मूर्छा है। इन अन्तर्मुखता का नाम ही जागरण है। इस लिए जो पूरी तरह जग गया वह साधु है। जो सो रहा है, जो निज स्वभाव मे मूछित है, जो दुनिया मे, कर्म के कार्य मे जाग रहा है वह असाधु है। वह जागरण भीतर इतना हो जाता है जहा न केवल बाहर की आवाज सुनाई देना बन्द होती है परन्तु अपनी श्वास की धड़कन भी सुनाई पडे, अपनी आख की पलक का, हिलना भी पता चले, भीतर के विचार का पता चले और उनके जानने वाले का ज्ञान भी बना रहे। ऐसी साधना ये तीनों प्रकार के साधु करते हैं। ऐसे लोक के सर्व साधु नमस्कार करने योग्य हैं। उनको नमस्कार हो।

पं० टोडरमल जी ने भी मुनि का स्वरूप निम्न प्रकार से ही लिखा है।

"जो वीतरागी हैं समस्त पर पदार्थ को त्याग कर शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अगीकार करके, अंतरग मे तो उस शुद्धोपयोग से अपने आपको आप अनुभव करते है, पर द्रव्य मे अह बुद्धि नही रखते, अपने ज्ञान स्वभाव को ही अपना मानते हैं, पर भावों में ममत्व नही रखते, पर द्रव्य और उनके स्वभाव को जानते है परन्तु इष्ट अनिष्ट मान कर रागद्वेष नही करते। शरीर की अनेक अवस्था होती है, बाहर में अनेक पदार्थों का संयोग होता है परन्तु वहां सुख-दुख नहीं मानते, अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बने वैसे बनती है, खेंच करके उनको नही करते, जैसे पानी मे कोई चीज बाहर की है, वैसे कर्म के सम्बन्ध के अनुसार मान-सम्मान आदि होते हैं परन्तु किसी चीज की अपेक्षा नहीं रखते, अपने उपयोग को बहुत नही भ्रमाते। उदासीन रह कर निश्चल वृत्ति को धारण करते है, मदराग के उदय से कदाचित् शुभोपयोग भी होता है जिससे जो शुद्धोपयोग के बाहरी साधन है उनमे अनुराग करते हे। परन्तु उस राग भाव को हेय समझ कर दूरकरने की चेष्टा करते, तीव्र कषाय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणति का जहा अस्तित्व ही नही है इस प्रकार की अतरग अवस्था होते बाहर समस्त परिग्रह रहित दिगम्बर सौम्य मुद्रा के धारी है, वन मे रहते है, अठाईस मूल गुणो का पालन अखंडित करते है, बाईस परिषह को सहन करते है, बारह प्रकार तप को धारण करते है, कभी ध्यानमुद्रा को धारते है कभी अध्ययनादि बाहरी धर्म क्रिया मे प्रवर्तते है, कदाचित् शरीर की स्थिति के लिए योग्य आहार विहार क्रिया मे सावधान होते है। ऐसे साधु ही नमस्कार करने योग्य है।

इन पाचो मे पूज्यता का कारण वीतराग विज्ञान भाव है; क्योंकि जीवत्व की अपेक्षा तो जीव समान है परन्तु रागादि विकार से तथा ज्ञान की कमी से तो यह जीव निन्दा योग्य होता है और रागादि की हीनता से और ज्ञान की विशेषता से स्तुति योग्य होता हैं। अरहन्त और सिद्ध तो पूर्ण रागादि से रहित हैं और वीतराग विज्ञानमय है और आचार्य, उपाध्याय और साधु मे एक देश राग की हीनता और एक देश वीतराग विज्ञान भाव हैं इसलिए वे वंदना करने योग्य हैं।"

अरहता मंगलं—सिद्धामंगलं—साहूमगलं—केवलिपण्णतो धम्मोमंगलं। ये चार मगल रूप है। जिनसे आत्मा का हित हो, आत्म-कल्याण हो उन्हे ही मंगल रूप कहा है। आत्म हित में साधन अरहत-सिद्ध-साहू और वस्तु का स्वरूप जैसा इनके द्वारा बताया गया है वही मंगल रूप कल्याणकारी हो सकता हैं। अन्य जिनको हम लोक में मगल रूप मान रहे है वे मगल रूप नही हैं। जहाँ वीतराग विज्ञानता है वहां मगलपना है।

चार ही लोकोत्तम है, याने ये चार ही लोक मे उत्तम हैं। धन-वैभव-राज्य-पद आदि कोई उत्तम नही क्योंकि बाहर से आया हुआ हैं। लोक मे उत्तम हैं तो यह चार ही हैं। इस पद के द्वारा लोक मे अन्य बाहरी पदार्थों को उत्तम मान कर जो पकड कर रखा है उनका निषेध किया है। असल मे यहाँ पर भी अरहतादि रूप जो अपना स्वरूप है उसे ही उत्तम और मगलरूप बताया जा रहा है परन्तु जब तक ऐसे स्वरूप की पूर्ण रूप से प्राप्ति नही हो जाती तब तक व्यवहार मे जो ऐसे स्वरूप को प्राप्त हुए है उन्हे मंगल रूप और उत्तम बताया हैं। इस प्रकार से यहाँ बाहर से हटा कर, पर से हटा कर अपने निज स्वरूप मे उत्तमपना धारण करने को कहा हैं।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—इन चार की शरण लेता हू ये ही शरण रूप है, ये ही शरण लेने योग्य है, ऐसा स्वरूप ही प्राप्त करने योग्य है। यहाँ पर भी किसी अन्य व्यक्ति विशेष की शरण लेने को नही कहा जा रहा है। परमार्थ से तो आप ही अपने लिये शरणभूत है परन्तु जब तक ऐसे स्वभाव मे पूर्ण रूप स्थिरता नही हो जाती तब तक बाहर मे अगर किसी का आसरा खोजने की दरकार पड़े तो ये ही चार शरणभूत है, अन्य दुनिया के पदार्थ, वस्तुएं, धन-वैभव, पुण्यादि का उदय, मान, सम्मान, राजा, महाराजा कोई भी शरणभूत नही है। कोई पद शरणभूत नही है, सभी नाशवान हैं, पर कारण से होने वाले है, पर रूप है।

—सन्मति विहार, नई दिल्ली २

□□

मध्वदर्शन और जैनदर्शन

☐ डा० रमेशचन्द्र जैन,

मध्वदर्शन विशुद्ध द्वैतवादी दर्शन है। जैनदर्शन द्वैतवादी होते हुए भी प्रत्येक जीवात्मा के स्वतन्त्र अद्वय तत्त्व को स्वरूपतः मानता है। मध्व ज्ञान के तीन साधनों को स्वीकार करते है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण। जैन दर्शन मे प्रमाण के केवल दो भेद किये गए है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, आगम और अनुमान प्रमाण आते है। मध्व दर्शन मे उपमान प्रमाण का अनुमान की ही कोटि मे माना गया है। जैन दर्शन मे उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण मे किया गया है। मध्व के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान स्वय विश्व की समस्या को हल करने मे सहायक नही हो सकते। प्रत्यक्ष की पहुच उन्ही तथ्यो तक है जो इन्द्रियगोचर है। अनुमान हमे कोई नवीन तथ्य नही दे सकता। यद्यपि अन्य साधनो द्वारा प्राप्त हुए तथ्यो की परीक्षा करने तथा उन्हे क्रमबद्ध करने मे यह सहायता अवश्य करता है। जैन दर्शन के अनुसार जानकारी के दो ही साधन है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है (१) साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और (२) परमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और मन के निमित्त मे जो जानकारी होती है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का विषय है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विषय है। अनुमान द्वारा हमे परोक्ष रूप से तथ्यो की जानकारी होती है। मध्व के मत मे यथार्थ सत्ता के सत्यज्ञान के लिए वेदो का आश्रय आवश्यक है। जैन दर्शन वेदो को प्रमाण नही मानता है, उसके अनुसार अपने आवरण के क्षयोपशम या क्षय से ही यथार्थ सत्ता की जानकारी होती है। मध्व के अनुसार ज्ञाता तथा ज्ञात के बिना कोई ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। ज्ञान के कर्ता अथवा ज्ञात प्रमेय पदार्थ के बिना ज्ञान के विषय मे कुछ कहना निरर्थक है। जैन दर्शन ज्ञान और ज्ञेय का पार्थक्य मानते हुए भी निर्विकल्प अवस्था मे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के भेद को स्वीकार नही करता है।

मध्व के अनुसार यह ससार अयथार्थ वस्तु नही है। यदि हम पदार्थों के मध्य भेद को स्वीकार नही करते तो हम विचारो मे परस्पर भेद की व्याख्या भी नही कर सकते। हमारा ज्ञान हमे बतलाता है कि भेद विद्यमान है। हम उन्हे केवल मात्र औपचारिक नही मान सकते, क्योंकि औपचारिकता भेद उत्पन्न नही करती। जैन दर्शन संसार को सर्वथा अयथार्थ नही मानता है। पदार्थों के मध्य भेदाभेद है जिसके आधार पर एक वस्तु दूसरी से मिलती-जुलती है अथवा पृथक् अस्तित्व रखती है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है।

मध्व के मत मे पदार्थ दो प्रकार के होते है—स्वतन्त्र और परतन्त्र। ईश्वर जो सर्वोपरि पुरुष है, वही एकमात्र स्वतन्त्र पदार्थ (यथार्थ सत्ता) है। परतन्त्र प्राणी दो प्रकार के है—(१) भाववाचक (२) अभाववाचक। भाववाचक के दो वर्ग है—एक चेतन आत्माएं है और दूसरे अचेतन पदार्थ, जैसे प्रकृति और काल। अचेतन पदार्थ या तो नित्य है, जैसे कि वेद या नित्य और अनित्य जैसे—प्रकृति, काल और देश अथवा अनित्य जैसे प्रकृतिजन्य पदार्थ। जैनदर्शन प्रत्येक पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता को मानता है, किसी को सर्वोपरि नही मानता है। उसके अनुसार ससार की सारी वस्तुयें भावाभावात्मक और नित्यानित्यात्मक है।

मध्व के अनुसार तीन वस्तुयें अनादिकाल से अनन्तकाल तक रहने वाली है जो मौलिक रूप से एक दूसरे से भिन्न है अर्थात् ईश्वर, आत्मा और जगत्। यद्यपि ये सब यथार्थ और नित्य है, फिर भी पिछले दो अर्थात् आत्मा तथा जगत् ईश्वर से निम्न श्रेणी के तथा उसके ऊपर आश्रित हैं। जैन दर्शन जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहों द्रव्यों को अनादि अनन्त स्वीकार करता है। नैश्चयिक दृष्टि से ये सभी स्वाश्रित है। इनमें से कोई भी निम्न अथवा उच्च श्रेणी का नहीं है, सभी की स्वतन्त्र सत्ता है।

मध्व ब्रह्म मे सब प्रकार की पूर्णता मानते हैं। ब्रह्म तथा विष्णु को एक रूप माना गया है और कहा गया है कि वह अपनी इच्छा से संसार का सचालन करता है।

वह संसार को बार-बार रचता तथा उसका सहार करता है। उसकी देह प्रति प्राकृतिक है और उसे सब संसार से ऊपर माना गया है तथा वह संसार के अन्तर्निहित भी है, क्योंकि वह सब जीवात्माओ मे अन्तर्यामी है, वह अपने को नानाविधि आकृतियों में प्रकट करता है, समय-समय पर अवतारों के रूप में प्रकट होता है और कहा जाता है कि पवित्र मूर्तियों के अन्दर गुप्त रूप मे उपस्थित रहता है। वह सृष्टि को रचता, उसको धारण करता तथा उसका विनाश करता है। वह ज्ञान का प्रदाता है, अपने को नाना प्रकार से व्यक्त करता है, कुछ को दण्ड देता तथा अन्य को मुक्त करता है। जैन दर्शन मुक्तावस्था को ही ब्रह्मोपलब्धि मानता है। मुक्त होने के बाद कोई अभीप्सा न रह जाने के कारण संसार के संचालन का प्रश्न ही नही उठता। सृष्टि, स्थिति तथा सहार अथवा उत्पाद, ध्रौव्य और व्ययपना प्रत्येक वस्तु मे पाया जाता है। जीव का स्वरूप अरूपी है। मुक्तावस्था मे स्वरूप प्रकट होने पर पवित्र मूर्तियों के अन्दर उपस्थित रहने का प्रश्न ही नही उठता। राग-द्वेष से विहीन होने के कारण मुक्त पुरुष अथवा कैवल्यप्राप्त पुरुष न तो किसी को दण्ड देता है, न किसी पर अनुग्रह करता है। प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों का क्षय कर मुक्त हो सकता है।

मध्व ब्रह्म और जीव के मध्यगत भेद को यथार्थ मानते हैं। उनका मत है कि यह समझना भूल है कि मोक्ष की अवस्था में जीव और ब्रह्म अभिन्न हो जाते है और ससार में भिन्न है। जैन दर्शन सभी आत्माओ का चाहे वे मुक्त हों या संसारी स्वतन्त्र, पृथक पृथक अस्तित्व मानता है। मध्व के अनुसार आत्मा स्वतन्त्र कर्ता नही है, क्योंकि वह परिमित शक्ति वाला है और प्रभु उसका मार्ग दर्शन करता है। जीव को आकार मे अणु बतलाया है और यह उस ब्रह्म से भिन्न है जो सर्वव्यापी है। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा नैश्चयिक दृष्टि से अपने भावों का कर्ता है और व्यवहारिक दृष्टि से कर्मादि का कर्ता है। आत्मा स्वरूपतः अपरिमित शक्ति वाली है। ससारी आत्मा कैवल्य प्राप्त अथवा मुक्त आत्माओं से प्रेरणा ग्रहण करता है। जीव शरीर प्रमाण आकार वाला है। मुक्तात्माओं से भिन्न किसी सर्वव्यापी ब्रह्म की सत्ता नहीं है।

मध्व तथा जैन दर्शन दोनो मे इस बात में समानता है कि आत्मा स्वभाव से आह्लादमय है, यद्यपि यह अपने पूर्व कर्म के अनुसार भौतिक शरीरों से सम्बद्ध होने के कारण सुख व दुःख के अधीन है। जब तक यह अपनी मर्यादाओं से विरहित नही होती, यह नाना जन्मो मे अपनी आकृतियाँ बदलती हुई भ्रमण करती रहती हैं। सब वस्तुओं के विषय मे यथार्थ ज्ञान अर्थात् भौतिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान हमे ईश्वर (परमात्मत्व) के ज्ञान की ओर ले जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए सबसे पूर्व एक स्वस्थ तथा निर्दोष नैतिक जीवन का होना आवश्यक है। बिना किसी इच्छा अथवा फल प्राप्ति के दावे के नैतिक नियमों का पालन करना तथा कर्तव्य कर्मों का निभाना आवश्यक है। धार्मिक जीवन हमे सत्य की गहराई मे पहुंचाने मे सहायक होता है।

मध्व के अनुसार वेदों के अध्ययन से हम सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते है और उसकी प्राप्ति के लिए एक उपयुक्त गुरु की आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति मे ब्रह्म के एक विशेष रूप का साक्षात्कार करने की क्षमता रहती है। केवल देवताओ तथा तीन उच्च वर्णों के मनुष्यों को ही वेदाध्ययन की आज्ञा दी गई है। ध्यान के द्वारा आत्मा दैवीय कृपा से अपने अन्तःकरण मे ईश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त कर सकती है। जैन दर्शन के अनुसार प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों की जानकारी होती है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से एक देश ज्ञान तथा क्षय से पूर्णज्ञान प्रकट होता है। प्रत्येक आत्मा अपना पूर्ण विकास कर परमात्मा बन सकता है। सम्यग्ज्ञान की आराधना का अधिकार सबको है। प्रशस्त ध्यान के द्वारा आत्मत्व की उपलब्धि होती है, दैवीय कृपा का ध्यान के साथ योग नही है। जीव स्वयं प्रयत्न कर बन्धन से मुक्त होता है, इसके लिए ईश्वर कृपा आवश्यक नही है। कोई दैवीय इच्छा मनुष्य को बन्धन में नहीं डालती, अपितु अपनी अनादिकालीन कर्म परम्परा से जीव बन्धन मे पड़ा हुआ है। सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये तीनों मोक्ष के लिए आवश्यक हैं।

जैन मन्दिर के पास
बिजनौर (उ० प्र०)

श्रावक और रत्नत्रय

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

मोक्ष मार्ग को इंगित करने के भाव में 'श्रावक' शब्द का बहुत बड़ा महत्व है। जैन परम्परा में श्रावक और मुनि इन दोनों शब्दों का उल्लेख प्राचीनकाल से मिलता है। मुनि अवस्था मे सर्व पाप और आरम्भ का पूर्णतः त्याग होता है और श्रावक में अशतः। 'श्रावक' अवस्था मोक्षमार्ग की प्रथम प्रारंभिक सीढ़ी है: ससार मे डूबे प्राणी को पार लगाने मे श्रावक पद लकड़ी के तख्ते की भांति सहारे का काम करता है तो मुनिपद नौका की भांति सहारा देता है।

संसार समुद्र में मग्न जिस जीव से नौका का दूर का फासला हो उसे तख्ते का सहारा लेकर नाव के पास तक पहुंचना चाहिए—इसी मे बुद्धिमानी है।

तत्वार्थ सूत्र मे मोक्षमार्ग के प्रसग में एक सूत्र आता है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसका भाव है सत्यश्रद्धा, सत्य-ज्ञान और सत्य-चारित्र की पूर्णता (एकत्वपना) मोक्ष का मार्ग है। यही भाव अशतः 'श्रावक' शब्द के वर्णो से सहज ही निकाला जा सकता है—'श्रा' से श्रद्धा, 'व' से विवेक और 'क' से क्रिया। अर्थात् जो श्रद्धा-विवेक और क्रिया (चारित्र) वान् है वह श्रावक है, वही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त है—ऐसा समझना चाहिए।

श्रद्धा-सम्यग्दर्शन का अपर नाम है। आचार्यों ने समझाने की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का दो भांति से वर्णन किया है—निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। इन दोनों की पहिचान तो बड़ी कठिन है, पर व्यवहार मे जो जीव शंका-आकांक्षा आदि दोषों से रहित हों—और देव-शास्त्र-गुरु में श्रद्धा रखते हों, जिनके अष्टमूल गुण धारण हों और मद्य-मांस-मधु इन तीन मकारों का त्याग हो वे जीव भी सम्यग्दृष्टि की श्रेणी में आते हैं। उक्त बातों से हमें व्यवहार सम्यग्दृष्टि का निर्धारण करना चाहिए। सम्यग्दर्शन का जैसा विशद् वर्णन आचार्योंने किया है उसकी किंचित् झलक इस भांति है—अतः इसे समझ कर अपने में सदा सावधान रहना चाहिए क्योंकि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसी सम्यग्दर्शन पर आधारित हैं—

सम्यग्दर्शन

'शिष्यों के प्रति संबोधन करते हुए जिनवरों—तीर्थंकर परमदेवों तथा अन्य केवलियों ने धर्म को दर्शनमूल कहा है अर्थात् धर्म की प्रतिष्ठा प्रासादगर्तापूरवत् और वृक्ष-पातालगत जटावत् सम्यग्दर्शन के आधार पर है। ऐसे धर्म को स्वकर्णों से सुनकर—अन्तरंग से मनन चिन्तवन करना व मानना चाहिए और दर्शन से हीन धर्म (धर्मी) की वन्दना (मान्यता) नही करनी चाहिए'। श्री श्रुत-सागर सूरि तो यहां तक कहते हैं कि दर्शनहीन अर्थात् मिथ्यादृष्टि को (दान की दृष्टि से) दान भी नहीं देना चाहिए। क्योंकि—

'मिथ्यादृग्भ्यो ददद्दानं दातामिथ्यात्ववर्धकः।

विपरीत इसके—शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की महिमा दिखलाई गई है और यहां तक भी कह दिया गया है कि 'सम्यग्दर्शन संपन्नमपि मातंग देहजम्' अर्थात् शरीर से चाण्डाल भी हो पर यदि सम्यग्दर्शन संपन्न है तो वह देव तुल्य (उत्तम) है! भाव यह है कि सम्यग्दर्शन आत्मगुण है उसका इस नश्वर शरीर-पुद्गलपिण्ड से साक्षात्-परमार्थ रूप कोई सबंध नहीं है। यदि कोई जीव देहादिक जड़ क्रिया अथवा देह के आश्रित रूप में सम्यग्दर्शन का महत्व मानता है तो वह भ्रम में है। हमे तो ऐसा उपदेश मिला है कि—आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की मान्यता रखना, बहिरंग की बढ़ोतरी में गर्व अथवा न्यूनता में हीनता का भाव करना आत्मतत्त्व की दृष्टि से हेय है। आचार्य ने शरीराश्रित और धनाश्रित दोनों ही प्रकार की विभूतियों की बढ़वारी अथवा हीनता में समता भाव का ही उपदेश दिया है। उक्त विवेचन का सार हम तो यही समझे हैं कि—

'न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥

व्यवहार में हम जिन उत्तम क्षमा-मार्दव आर्जव शौच सत्य, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य को धर्म का रूप मानते हैं उन धर्मों की जड़ में भी सम्यग्दर्शन बैठा हुआ है । अतः मिथ्यादृष्टि के उत्तम क्षमादि होना सर्वथा अशक्य हैं । यदि कोई कुलिगी उक्त धर्मों का आसरा लेता है और उनके आसरे मिथ्यात्व सहित अवस्था में धर्म मानता है तो वह धर्म एव उसके स्वरूप को नहीं जानता सम्यग्दृष्टि का धर्म ऐसे किसी प्रपच से सम्बन्ध नही रखता जिसमें संसार-वर्धक क्रिया-कलापों का ससर्ग भी होता हो । कहा तो यहाँ तक है कि—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिंगिनां ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव किन्हीं भी और कैसे भी कारणों के उपस्थित होने पर कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं की मान्यता नही करता । मूलरूप मे धर्म भी वहीं है जहां शुद्ध आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त पर पदार्थों मे निजत्व की कल्पना अथवा उन पर पदार्थों से ख्याति-पूजादि की चाह आदि का पूर्ण अभाव होता है और किसी भी लोभ-आशा अथवा स्नेह के वश से पर-पदार्थों की प्रशसा नहीं की जाती है । हाँ, पदार्थ स्वरूप अवगम की दृष्टि से उनके याथातथ्य स्वरूप पर विचार और वर्णन करने मे दोष नही । सार यह कि धर्म के अस्तित्व मे सम्यग्दर्शन की उपस्थिति परमावश्यक है । आत्म-पुरुषार्थी का प्रयत्न होना चाहिये कि उसका एक भी क्षण सम्यग्दर्शन की आराधना के बिना न जाय ।

सम्यग्दर्शन-महिमा के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

दंसण भट्टा भट्टा, दंसण भट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसण भट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

अर्थात् दर्शन से भ्रष्ट जीव भ्रष्ट हैं । उनके सर्वकर्म-क्षयलक्षण मोक्ष नहीं है । चारित्रभ्रष्ट (व्यवहार-चारित्र-भ्रष्ट) जीव तो कदाचित् ठिकाने पर आ आत्मोपलब्धि को प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव आत्मोपलब्धि नहीं पाते । आशय है कि—

संसारी जीव अपनी अज्ञानतावश जिस इन्द्रियजन्य सुख को सुख समझ रहे है वह सुख नही अपितु दुख ही है । क्योंकि उसमें अनाकुलता और स्थायित्व नहीं । सुख परमसुख वह है जिसके आदि मध्य अन्त्य तीनों सुखरूप हों । जिसमें दुख और आकुलता का लेश न हो । ऐसा परमसुख सर्वकर्म क्षय लक्षण मोक्ष में है और वह मोक्ष सम्यग्दर्शन रूपी सीढ़ी के बिना नहीं मिल सकता । अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी महल की प्रथम सीढ़ी है । इसलिए दर्शन से भ्रष्ट नही होना चाहिए । क्योंकि—

'नहि सम्यक्त्व सम किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनुभृताम् ।'

अर्थात् तीनों कालों और तीनों लोकों मे शरीरधारियों को सम्यक्त्व सदृश कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व के सदृश कोई अकल्याणकारी नहीं है ।

सांसारिक सुख अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि में तुच्छ सुख तो अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते है । पर मोक्ष सुख के लिए सम्यग्दर्शन होना अवश्यम्भावी है । आचार्यों ने जहां पुण्य की महिमा का वर्णन किया है वहां सम्यग्दर्शन को ही प्रधानता दी है । यथा—

'सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाण ण सो कुणई ॥'

अर्थात् सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नहीं होता । स्वाध्यायी देखेंगे कि उक्त गाथा मे पुण्य के पूर्व सम्यग्दर्शन का उल्लेख किया गया है । यदि मात्र पुण्य से ही मोक्ष मिलता होता तो आचार्य इस गाथा में सम्यग्दर्शन जैसे महत्वपूर्ण शब्द का प्रयोग पुण्य के पूर्व में न करते । और अन्यत्र मोक्ष विधि में पुण्य प्रकृति के नष्ट करने का विधान भी नहीं करते । यदि कदाचित् सम्यग्दर्शन-हीन पुण्य को ही मोक्ष का कारण मान लिया जाय तो ज्ञान ने कौन सा अपराध किया है जिसे आत्म-गुण होने पर भी सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष का कारण न माना जाय । विचित्र सी बात होगी कि एक ओर तो आत्मा से सर्वथा विपरीत और कर्म प्रकृति-रूप-पुण्य को सम्यग्दर्शन की उपेक्षा कर मुक्ति का दाता मान लिया जाय और दूसरी ओर आत्मा के निज तत्व-ज्ञानगुण को सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्पना भी न दिया जाय ।

इन बातों पर दृष्टिपात करने से ऐसा ही बोध होता है कि उक्त वर्णन में आचार्य का तात्पर्य उन जीवों को संबोधन का रहा है जो कदाचित् मात्र पुण्य को ही सब कुछ मान उसे मोक्ष का कारण तक मान बैठे हों। आचार्य ने दर्शाया है कि—हे भव्य जीवो, केवल पुण्य को ही मोक्ष का कारण न मान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयत्न करो। अन्यथा पुण्य तो मिथ्यात्वी के भी होता है। आचार्य का भाव ऐसा है कि जब सम्यग्दर्शन होगा, तभी पुण्य शुभ रूप में उपस्थित होगा। यद्यपि पुण्य साक्षात् रूप से तब भी मोक्ष न पहुंचायेगा अपितु उस पुण्य को भी नष्ट करना ही होगा। यह तो सम्यग्दर्शन की महिमा होगी कि उमसे प्रभावित पुण्य सामग्री उस जीव को निरन्तर उत्कर्ष की ओर ले चलेगी। अन्यथा पुण्य साधारण तो मिथ्यादृष्टि के भी देखा जाता है। वध कर्म करने वाले बधक को पुण्य योग से प्राप्त सामग्री वध जैसे अशुभ कार्य मे प्रयुक्त होती देखी ही जाती है।

स्पष्ट यह है कि पुण्य शुभ है और पाप अशुभ है। शास्त्रों में अशुभ से निवृत्ति कर शुभ में प्रवृत्ति और शुभ से निवृत्ति कर शुद्ध मे प्रवृत्ति का उपदेश है। अशुभ सर्वथा हेय है और शुभ कथचित् उपादेय है। कथचित इसलिए कि शुभ भाव सहित सम्यग्दृष्टि शुद्धि की ओर बढता है। अन्ततोगत्वा मोक्ष विधि में शुभ को सर्वथा छोड़ शुद्धि धारण करना पड़ता है।

बहुत से जीव ऐसा विचार कर लेते है कि अशुभ की निवृत्ति से शुभ और शुभ की निवृत्ति से शुद्ध स्वाभाविक ही हो जाता है। इस प्रकार शुभ—पुण्य से मोक्ष हो ही जायेगा। सो उनका ऐसा मानना भी भ्रम है। क्योंकि ऐसा नियम नही है। अतः जीव शुभ से निवृत्त हो अशुभ में भी जा सकता है, शुद्ध मे भी जा सकता है। ये सब जीवों के अपने परिणामो पर निर्भर करता है और परिणामों के सम्यक् व मिथ्या होने मे जीव के सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन मुख्य कारण है। इसी बात को पंडित प्रवर टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक में विशेष स्पष्ट करते है, वे कहते हैं—

'कोई ऐसे माने कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग कौं कारण है। सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है तैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसे ही कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरै। अथवा द्रव्यलिंगी कैं शुभोपयोग तो उत्कृष्ट ही है—शुद्धोपयोग होता ही नही।'

'बहुरि जो शुभोपयोग ही कौं भला जानि ताका साधन किया करै तौ शुद्धोपयोग कैसे होय। तातै मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तौ शुद्धोपयोग कौं कारण है नहीं। सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग की प्राप्ति होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोग कौं शुद्धोपयोग का कारण भी कहिए है।'

इससे स्पष्ट है कि मोक्षमार्ग प्रकरण में सर्वत्र सम्यग्दर्शन की ही प्रधानता है। किसी कर्म प्रकृति की प्रधानता सर्वथा ही नहीं। अपितु कर्म प्रकृतियो के नष्ट करने का ही विधान है। इस कथन का तात्पर्य यह नही कि पुण्य को सभी दृष्टियों से हेय मान पापरूप प्रवृत्ति की जाय। जब तक जीव की प्रवृत्ति शुद्ध दशा की ओर सर्वथा नहीं, तब तक पुण्यजनक क्रियायें करने का शास्त्रो मे समर्थन है। देव-पूजा आदि षट्कर्म-श्रावक और मुनि के व्रत सभी इसी के अंग है। जहां तक व्यवहार है ये सब रहेंगे। पर सर्वथा इनसे ही चिपके रहना और आत्मा की शुद्ध परिणति की संभाल न करना आत्म-कल्याण में आचार्य को इष्ट नही। निष्कर्ष ये निकला कि बिना सम्यग्दर्शन के शुभक्रियायें भी आत्म-साधन मे कार्यकारी नही। अतः सम्यग्दर्शन की संभाल रखनी चाहिए। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव सदा ही भ्रष्ट हैं - यह पूर्वार्ध का भाव है।

मूल गाथा में जो ऐसा कहा गया है कि 'सिज्झति चरिय भट्टा' इसका आशय इतना ही है कि जिन जीवों को सम्यग्दर्शन है और चारित्र नही है, उन्हें भविष्य में स्वभाव प्राप्ति की तीव्र लगन होने पर चारित्र सहज भी प्राप्त हो जाता है। शास्त्रों मे वर्णन है कि बाह्य चारित्र के अभाव में भी 'प्राणं ताण कछु न जाणं' और 'तुषमाषं घोषन्तो' रटते हुए अंजन चोर आदि अनेकों जीव कदाचित् क्षणमात्र में पार हो गए। अर्थात् उन्हें आत्मबोध और लीनता प्राप्त करते देर न लगी। और दर्शनभ्रष्ट मरीचि जैसे जीव को सीझते सीझते भगवान आदिनाथ के काल

(शेष पृ० ३६ पर)

कर्म सिद्धान्त की जीवन में उपयोगिता

☐ सुश्री श्री पुखराज जैन

मुक्ति ! मुक्ति !! मुक्ति !!! सर्वत्र यही चर्चा है। लेकिन मुक्ति मिले कैसे ? जब तक जीव निज-पहचान-श्रद्धान-रमणता रूप त्रिवेणी में डुबकी लगाकर ज्ञान-ध्यान-तप रूपी अग्नि में जीव के अनादिकालीन-कर्म-शत्रुओं का नाश न करे। यदि जीव भवभ्रमण से थकान महसूस करता है और सच्चे अर्थों मे शाश्वत निराकुल सुख के लिए लालायित है, तो उसके लिए कर्म-सिद्धान्त की रहस्यमय सम्यक् जानकारी अनिवार्य है। अन्यथा कर्म का स्वरूप, आस्रव (आगमन) के कारण, बन्ध (आत्मा केसाथ) की प्रक्रिया, कर्मों की स्थिति और मैं इनसे भिन्न एकमात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा हूं – यह सब जाने बिना किस प्रकार स्वभाव सन्मुख होकर परम-इष्ट मुक्ति का वरण करेगा। अतः कर्म-विज्ञानका यथार्थ ज्ञान अपेक्षित है।

साधक के आत्म-विकास मे जिस-कारण से बाधा उपस्थित होती है। उसे जैनदर्शन मे कर्म कहते है। जैनों के अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को सांख्य योग, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक बौद्धादि मत भी मानते है। लेकिन अन्य दर्शनो से भिन्न जैन शासन मे कर्म-सिद्धान्त पर अपेक्षाकृत अधिक गंभीर, विशद, वैज्ञानिक चिंतना की गई है। निष्पक्षता व दृढ़ता-पूर्वक इसे जैनागम की मौलिक विधा कहा जा सकता है। कर्म सिद्धान्त के अभाव में जैनागम का अध्ययन पंगु है।

विश्व की विविधता का समाधान कर्म तत्वज्ञान द्वारा (अन्य दर्शनो से भिन्न) तर्कानुकूल पद्धति से जैन शासन में होता है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपना भाग्य-विधाता स्वयं है। वह ईश्वर की किंचित भी अपेक्षा नही करता न कर्म करने मे न भोगने में। स्मरणीय है कि विचित्रताओं से पूर्ण विश्व एक स्वभाव वाले ईश्वर की कृति नही हो सकता।

कर्म केवल संस्कार मात्र नहीं वस्तुभूत पदार्थ है। जो रागी-द्वेषी जीव की योग-क्रिया मन-वचन काय से आकृष्ट होकर जीव के पास आता है और मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता अविरत, प्रमाद व कषाय का निमित्त पाकर जीव से बंध जाता है।

बंध अवस्था मे जीव व पुद्गल अपने-अपने गुणो से कुछ च्युत होकर एक नवीन अवस्था का निर्माण करते है। सामान्यपने से कर्म एक ही है, उसमे भेद नहीं लेकिन द्रव्य

(पृष्ठ ३५ का शेषांश)

से प्रारम्भ कर भगवान पार्श्वनाथ के होने तक के करोड़ों-करोड़ों वर्षों का लंबा काल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे लग गया। यदि दर्शन शीघ्र भी हो जाय तो भी आश्चर्य नहीं—पर इसका होना जरूरी है क्योंकि इसके बिना ज्ञान और चारित्र दोनों ही सम्यक्ता को प्राप्त नहीं करते।

इतना ध्यान रखें कि उक्त कथन 'दर्शन' की मुख्यता को लिए हुए है। वैसे जैनधर्म चारित्र प्रधान धर्म है और इसमें सभी रूपों में चारित्र की महिमा गाई गई है। साधारण जन के लिए मुनिपद तो बड़ी दूर की कल्पना की बात है, इसके श्रावक पद का ही चारित्र इतना ऊँचा और कठिन है कि जिसे देख स्वर्ग में देव तक भी ईर्ष्या करते है। वे चारित्र पालन में हेतुभूत मनुष्य भव की चाहना करते हैं क्योंकि मनुष्य भव के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र के बिना मुक्ति नही होती। आखिर, यथाख्यात चारित्र—चारित्र की उच्चतम अवस्था ही का नाम है। मूल बात ये कि यह यथाख्यात चारित्र भी सम्यग्दर्शन के बल पर ही होता है— मूल सम्यग्दर्शन होने पर कभी न कभी चारित्र होता ही है। अतः आचार्य ने दर्शन को मूल कहते हुए उपर्युक्त गाथा मे उसकी प्रशंसा और महानता को दर्शाया है। भाव ऐसा जानना चाहिए कि हमें बाह्य चारित्र में रहकर दर्शन प्राप्त करने में 'उद्यम करना चाहिए, चारित्र से विमुख नहीं होना चाहिए।

(क्रमशः)

तथा भाव के भेद से इसके दो प्रकार हैं। जिन भावों के द्वारा पुद्गल पिण्ड आकर्षित हो यह भावकर्म है तथा आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गल द्रव्यकर्म है। पुद्गलजनित द्रव्य कर्म की संख्या ८ है। **ज्ञानावरण कर्म**—ज्ञान पर आवरण डालता है। जैसे देवता के मुख पर ढका वस्त्र देवता के विशेष ज्ञान को नही होने देता। **दर्शनावरण**—जो आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डाले। इसका स्वभाव दरबारी जैसा है जो राजा के दर्शन से रोकता है। **वेदनीय कर्म**—शहद लपेटी छुरी के समान है, जिसको चखने पर क्रमशः साता रूप सुख व असाता रूप दुख होता है। **मोहनीय कर्म**—मदिरा के समान है। मोह रूपी मदिरा नशे के कारण आत्मा को अचेत कर देती है। और निज स्वरूप का भान नही होने देती। **आयु कर्म** सांकल के स्वभाव का है जो आत्मा को शरीर मे स्थित रखती है। आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्यायों मे रोके रखता है। **नामकर्म** रूपी चित्रकार जीव को सुन्दर-असुन्दर, दुबले-मोटे शरीर की रचना करता है। गोत्रकर्म ऊँचे-नीचे कुल मे पैदा करता है—जैसे कुंभकार छोटे-बड़े घड़े बनाता है। **अन्तराय कर्म** का स्वभाव भंडारी सरीखा है। भंडारी जैसे दानादि मे विघ्न डालता है। वैसे ही अन्तराय कर्म का काम सदैव रंग में भंग डालने का है। उपरोक्त मे चार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय जीव के अनुजीवी गुणों का घात करने के कारण घातिया कर्म कहलाते हैं। शेष आयु नाम गोत्र वेदनीय अघातिया कर्म है। तत्वार्थसूत्र नाम के ग्रन्थ में कर्मों के आस्रव (आगमन के कारण) बंध की प्रक्रिया, उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति आदि का व्यापक विवेचन है। कर्मबन्ध के चार भेद बतलाये। **प्रकृतिबंध**—कर्म परमाणुओ मे स्वभाव का पड़ना। **प्रदेशबंध**—कर्म परमाणुओ मे सख्या का नियत होना, **स्थितिबंध**—कर्म परमाणुओं मे काल की मर्यादा का पड़ना कि ये अमुक समय तक फल देंगे। इनमे फल देने की शक्ति का पड़ना **अनुभाग बंध** है। प्रकृति और प्रदेश बन्ध का निर्धारक योग है। और स्थिति व अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमूर्तिक आत्मा पुद्गल द्रव्य कर्म से संबद्ध कैसे और क्यों कर होता है? दोनों के समाधान अपेक्षित हैं।

जिस प्रकार तेल तिल का सोना-किट्टिमा का संबद्ध अनादि से देखा जाता है आत्मा और कर्म का संबद्ध भी अनादि से है। सादि सबंध मानने पर अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैसे—पहले आत्मा कर्मबंधन से मुक्त था; उसमें अनन्त ज्ञानादि गुण पूर्ण विकसित अवस्था मे थे। ऐसा परिशुद्ध आत्मा क्यों कर्म बंधन को स्वीकार कर स्वयं अपनी चिता रचने का प्रयास करेगा? सर्वदा परिशुद्ध आत्मा अत्यन्त अपवित्र घृणित शरीर को धारण करने का स्वप्न में भी विचार न करेगा।

चूंकि आत्मा और कर्म सबंध अनादि है अतः बंध पर्याय के प्रति एकत्व होने से आत्मा कथंचित मूर्तिक है। और अपने ज्ञानादि लक्षणों का परित्याग न करने के कारण कथंचित अमूर्तिक है। जैसे रूपादि रहित आत्मा रूपी द्रव्यों और उनके गुणों को जानता है। वैसे ही अरूपी आत्मा रूपी कर्म पुद्गल से बाँधा जाता है।

कर्मफल—वैदिक दर्शन की मान्यतानुसार जीव कर्म करने मे स्वतंत्र लेकिन फल भोगने मे परतंत्र है। लेकिन जैनदर्शन मे जैसे दूध पीने से पुष्टि व मद्यपान से नशा स्वतः ही आता है। उसके लिए किसी अन्यकर्ता की आवश्यकता नही होती; इसी प्रकार भले बुरे फलदान की शक्ति स्वयं कर्म मे होती है। कहा है—

'स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वे देते।
करे आप फल देय अन्य, तो स्वयं किये निष्फल होते।।'

यह मानना कि ईश्वर विश्व के समस्त चराचर प्राणियों के समस्त कर्मों (कार्यों) का लेखा-जोखा रख उन्हें दण्ड व पुरस्कार देता है; उस सच्चिदानन्द को संकट के सिंधु मे डालने सदृश होगा। फिर भगवान तो वीतराग-वीतद्वेष होते है वे क्यो कर क्रमशः पुरस्कार और दण्ड प्रदाता होगे।

कहा भी है—

'कर्ता जगत का मानता, जो कर्म या भगवान को।
वह भूलता है लोक मे, अस्तित्व गुण के ज्ञान को।।"

वस्तुतः संसार मे सभी प्राणी अपने कर्मों से बंधे हैं। उनकी बुद्धि कर्मानुसार ही होती है। शुभ कर्मोपार्जित

बुद्धि सन्मार्ग प्रदर्शाती है। इसके विपरीत अशुभ कर्मोदय में प्राणी कुमार्ग मे भटकता है।

विचारणीय है कि किसी कर्म का फल इस जन्म में मिल जाता है और किसी का जन्मान्तर में। इस प्रकार कर्मफल भोग में विषमता देखी जाती है। ईश्वरवादियों की ओर से इसका ईश्वरेच्छा के अतिरिक्त और कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिलता। लेकिन कर्म में ही फलदान की शक्ति मानने वाला जैन सिद्धान्त इसका तर्कानुकूल पद्धति से उत्तर देता है। युक्ति, अनुभव, आगम से भी यही सिद्ध होता है कि कर्मफलदाता ईश्वर नहीं, कर्म है।

जब जीव को कर्म-फल का रहस्य ख्याल में आता है। कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वकृत कर्मानुसार ही अनुकूलता-प्रतिकूलता सफलता-असफलता मिलती है; तो वह व्यर्थ ही खेद-खिन्न न हो सतोष प्राप्ति को धारण करता है। उसके लिए अन्य प्रगतिशील साथी से ईर्ष्या करने का भी कोई प्रयोजन नही रह जाता क्योंकि उसे उसके अपने कर्मानुसार प्राप्त होता है। **कैसा कर्म करें, जिससे श्रेष्ठ फल मिले"** भव्य जीव निरन्तर यही चिंतवन और श्रेष्ठ आचरण करने का प्रयास करता है। कर्म-सिद्धान्त का सम्यक् ज्ञान वह औषधि है, जिसका हर रूप में पान करने से फल की आकाक्षा नही रहती। क्योंकि उसका पक्का विश्वास है कि मेरे शुभ कर्मों की शुभप्राप्ति मे इन्द्रनरेन्द्र (संसारी तो क्या जिनेन्द्र (मुक्त) भी फेरफार करने में समर्थ नही। शुभाशुभ कर्मफल में ज्ञानी समभाव धारण कर विचारता है कि इसमे वर्तमान की अपेक्षा जन्मान्तर से संचित कर्मो का भी हाथ है।

कर्म बलवान/निर्बल—जैन दर्शन की अनेकान्तमय दृष्टि कथचित् कर्म को बलवान स्वीकार करती है।

कर्म महारिपु जोर एक ना कान करे जी।
मन माने दुःख देय काहूं सों नाहीं डरे जी॥
कबहुं इतर-निगोद कबहुं नरक दिखावे।
सुर-नर पशु गति मांहि बहु-विध नाच नचावे॥
मैं तो एक अनाथ ये मिल दुष्ट घनेरे।
कियो बहुत-बेहाल सुनियो साहिब मेरे॥'

भूधरदास जी द्वारा रचित भजन की उपरोक्त चंद पंक्तियों से कर्म माहात्म्य स्पष्ट रूप से झलकता है। तत्त्वार्थ सूत्र में कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का विवेचन सहज ही भयाक्रान्त करने वाला है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस-कोड़ा-कोड़ी सागर (अपरिमित-काल) और अकेले मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की है। घातिया कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति जीव को दीर्घकाल तक भव-भ्रमण कराने में सबल निमित्त है। और भी उल्लेखनीय है कि कर्म उदय में आने पर फल अवश्य देते हैं। सती सीता चन्दनबाला, अंजना और मैनासुन्दरी को कर्मों ने क्या खेल नहीं खिलाये।

भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ के जीव का उपसर्ग तो सर्वप्रसिद्ध है तीव्र कर्मोदय में प्रायः सुबुद्धि भी चलायमान हो जाती है। 'जैनशतक' मे भूधरदास जी असाताकर्मोदय आने पर धैर्य धारण की शिक्षा देते हैं—

'आयो है अचानक भयानक असाता कर्म।
ताके दूर करिबे को बली कौन अह रे॥
जे जे मन भाये, ते कमाये पूर्व पाप आप।
तेई अब आये, निज उदैकाल लहरे॥
एरे मेरे वीर काहे होत है अधीर यामें।
काहु को न सीर, तू अकेलो आप सह रे॥
भये दीलगीर[1] कछु पीर न विनसि जाय।
ताही तैं सयाने तू तमासगीर[2] रह रे॥

निर्बलता—कर्म कोई क्रूर आततायी नही जो प्रत्यक्ष में सन्मुख होकर जीव को दुःख देते हों वे तो प्राणी के साथ रहने वाले संस्कार अभ्यास व आदतें हैं जो उसने मानसिक वृत्तियों वचनालापों व कायिक विकृतियों द्वारा अपने मे अंकित कर रखे हैं। ये संस्कार व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध नहीं चलते। वरन ये तो स्वयं व्यक्ति के पाले-पोषे सहायक साथी हैं। जिन्हें वह सदा अपने सीने से लगाये रहता है। इस जन्म में भी और जन्मान्तर में भी। यद्यपि कथन मे ऐसा आता है कि ज्ञानावरणादिक कर्म दुःख के कारण है तथापि द्रव्यार्थिक नय से कहा जाय तो जब यह जीव स्वयं विकार भाव रूप परिणमन करता है

१. निराश।

२. ज्ञाता-दृष्टा—(आत्मा का स्वभाव जानना देखना है।)

और तब निमित्त रूप में कर्म उपस्थित रहते हैं। इसीलिए कर्म के मत्थे दुःख का कारण मढ़ दिया जाता है। वस्तुतः जीव अपनी ही भूल (मोहरागद्वेष) से दुःखी है। जीव को अपनी अनन्त वीर्य शक्ति का ख्याल नहीं, अन्यथा रत्नत्रय खड्ग संभाले तो कर्म-शत्रुओं का नाश होने मे विलम्ब नहीं। विश्व रंगमंच पर यह जीव प्रायः सभी रसों के खेल दिखाता है। यदि भूले-भटके भी यथाजातलिंग हो, जिनेन्द्र मुद्रा को धारण करे और शान्तरस का अभिनय करे तो कर्म अनन्त निधि का अर्पण करते हुए आत्मा के पास से विदा हो जायें।

तर्क की दृष्टि से भी कर्म महा निर्बल सिद्ध होते हैं। जड़ कर्म चेतना-शक्ति सम्पन्न आत्मा को सुख-दुख प्रदान करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं। फिर जैन धर्म तो प्रत्येक द्रव्य का ही नहीं कण-कण की स्वतन्त्रता का उद्घोषक है। वस्तुतः जीव स्वयं पुद्गल पुंज को कर्म-योग्य परिणमन के लिए आमन्त्रित करता है।

कहा भी है—कर्म विचारे कौन भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात लोह की संगति पायी।।

निम्न पंक्तियों मे कर्म की निर्बलता स्पष्ट झलकती है—

'जिस समय हो आत्म-दृष्टि कर्म थर-थर कांपते हैं।
भाव की एकाग्रता लखि छोड़ खुद ही भागते हैं।।
आत्मा से है पृथक तन-धन सोच रे मन कर रहा क्या।
लखि अवस्था कर्म-जड़ की बोल उनसे डर रहा क्या।।'

यह सत्य है तभी तो जीव और कर्म का शाश्वत वियोग मोक्ष सुख कहा।

जैन दर्शन का रहस्यमय कर्म सिद्धान्त गूढ़ व अति वैज्ञानिक है। इसका जितना गहन अध्ययन किया जाय इसकी वैज्ञानिकता उजागर होती है। कर्मों का स्वरूप, आस्रव के कारण, बंध की प्रक्रिया कर्म-फल, संवर (कर्म आगमन रुकना) और निर्जरा (कर्मों का एक देश झड़ना) आदि सभी चरण क्रमबद्ध व अति वैज्ञानिकता लिये हैं। आवश्यकता है इसके रहस्य को आत्मसात करने की। इसी क्रम में कर्मों की दस अवस्थाएं उल्लेखनीय हैं। इन्हें जैन शासन में कारण कहते हैं। **बंध**—कर्म-पुद्गल का जीव के साथ सबद्ध होने को बंध कहते हैं। कर्मों की स्थिति व अनुभाग का 'बढ़ना' व 'घटना' क्रमशः **उत्कर्षण** व **अपकर्षण** कहलाता है। कर्मबंध के बाद ये दोनों क्रियाएँ चलती हैं। अशुभ कर्मबंध के बाद ये दोनों क्रियाएँ चलती हैं। अशुभ कर्मबंध के बाद यदि भावों में कलुषता बढ़ती है तो उत्कर्षण होता है और उत्तरोत्तर भावों की शुद्धता होने पर अपकर्षण होता है। महाराजा श्रेणिक की सातवें नरक की उत्कृष्ट आयु तेंतीस सागर की बंधी थी लेकिन क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से प्रथम नरक की आयु मात्र चौरासी हजार वर्ष की रही। **सत्ता**—कर्म बंधने के तुरन्त बाद अपना फल नहीं देते उसी प्रकार जैसे बीज डालने के तुरन्त बाद पौधा नहीं उगता। **उदय**—कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। कर्म के फल देकर नष्ट होने को फलोदय और बिना फल दिये नष्ट होने को प्रदेशोदय कहते है। **उदीरणा**—अपकर्षण द्वारा कर्म की स्थिति को कम किये जाने के कारण कभी-कभी नियत समय से पूर्व कर्म का विपाक हो जाता है जैसे आम को घास में दबा कर नियत समय से पूर्व पका लिया जाता है। **संक्रमण**—एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्म रूप हो जाना। यह संक्रमण मूल भेदों में नहीं अवान्तर भेदों में होता है। संक्रमण का एक सुन्दर उदाहरण सती मैना सुन्दरी के जीवन का एक प्रसंग है। सिद्धचक्र विधान करनेके दौरान मैना सुन्दरी के विशुद्ध परिणाम और अतिशय पुण्य का बंधना सभव हुआ। परिणाम स्वरूप अशुभ कर्म का शुभ कर्म मे संक्रमण हुआ। उसी समय उसके पति श्रीपाल के अशुभ कर्मों की स्थिति समाप्त हुई, और कोढ़ दूर हुआ। **उपशम**—कर्म को उदय में आ सकने के अयोग्य करना **निधत्ति**—कर्म का उदय और संक्रमण न होना। **निकाचना**—उसमें उदय संक्रमण अपकर्षण और उत्कर्षण का न होना।

इससे सिद्ध होता है कि जीव के भावों में निर्मलता अथवा मलिनता की तरतमता के अनुसार कर्मों के बंध आदि में हीनाधिकता हो जाती है। कर्मों को असमय में उदय में लाकर, आत्मबल को जागृत कर, कर्मों की राशि जो सागरों (अपरिमित काल) काल पर्यन्त अपना फल देती, नष्ट किया जा सकता है। ऐसी व्यवस्था न हो तो अनन्तकाल से स्वभाव पर आच्छादित कर्म राशि को कैसे अलग किया जाता। इसे कर्म सिद्धान्त की महती देन ही

कहना चाहिये कि भव्य जीव योग्य पुरुषार्थ द्वारा अशुभ को शुभ में संक्रमण कर सकता है। अनन्त कर्मों के पुंज को तीव्र पुरुषार्थ द्वारा (उपशम) उदय के अयोग्य बनाया जा सकता है।

कर्म सिद्धान्त द्वारा प्राणी मात्र की स्वतन्त्रता की घोषणा—जैन धर्मानुसार प्रत्येक प्राणी स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। उत्कृष्ट शुभकर्मोपार्जन कर एक जीव नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती और यहाँ तक कि सोलहकारण भावनाओं के चिंतवन के फलस्वरूप लोकोत्तर सर्वोत्तम समवशरणादि वैभव का स्वामी बनता है। प्रत्येक प्राणी अकेला कर्मोपार्जन करता है और अकेला ही भोगता है। कविवर पं० दौलतराम जी ने छहढ़ाला में एकत्व भावना में कहा है—

'शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगे जिय एक ही ते ते।
सुत–दारा[1] होय न सीरी[2], सब स्वारथ के हैं भीरी॥'

कर्म सिद्धान्त द्वारा भेद विज्ञान—स्त्री, पुत्र, संपदा, महल व मकानादि तो प्रत्यक्ष ही भिन्न है। औदारिक शरीर को भी मृत्यु के समय भिन्न होते प्रत्यक्ष देखा जाता है। तैजस और कार्माण शरीर जिनका आत्मा के साथ संबद्ध अनादि काल से है (अनादि सबंधे च') उनकी भिन्नता का ज्ञान कर्म सिद्धान्त द्वारा होता है। कर्म चूंकि पौद्गलिक जड़ है अतः स्वाभाविक रूप से वह अमूर्तिक ज्ञानादि गुणों के धारी जीव से नितान्त भिन्न है। चाहे चक्रवर्ती का राज्य मिले या तीर्थंकर का समवशरणादि अत्यन्त आश्चर्यकारी वैभव यह सब कर्म कृत है। चिदानन्द स्वरूप तो पर से नितान्त भिन्न है। इस प्रकार का विवेक जागृत होने से भेद-विज्ञान होता है।

पूर्वकृत कर्मानुसार ही नर-नारकादि भव मिलते हैं इसलिए अज्ञानी जीव कर्म को ही आत्मा मानने की भूल कर बैठता है। इस तथ्य से विस्मृत होकर, कि जीव की भूल के कारण ही पुद्गलपुंज कर्म रूप परिणमन हुआ है। वे कर्मों पर सुख-दुख कर्ता होने का मिथ्या आरोप लगाते हैं। स्मरणीय है कि जीव की सत्ता में कर्म सत्ता का प्रवेश ही नहीं हो सकता तो वे जीव को सुखी दुःखी कैसे कर सकते हैं? अर्थात नहीं कर सकते। और यदि करने में समर्थ हों तो अनन्त स्वतन्त्रता के धारी आत्म तत्व को पराधीन कहा जायेगा जो तीन काल मे भी संभव नहीं।

कर्म को ही आत्मा मानने वाले जीव इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि कर्मों का नाश कर वीतरागता जीव को ही प्रकट करना है। कर्म को ही आत्मा कहने वालों का यह तर्क है कि जैसे लकड़ी के आठ टुकड़ों से भिन्न कोई पलंग नहीं उसी प्रकार कर्म सयोग से भिन्न कोई आत्मा नहीं। यद्यपि आठ टुकड़ों से बना निःसन्देह पलंग ही है तथापि पलग पर सोने वाला पुरुष द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा पलंग से नितान्त भिन्न हैं। इसी प्रकार अष्ट कर्मों के सयोग से भिन्न कर्मावरण मे रहने वाला चैतन्य महाप्रभु पलंग से पुरुषवत् भिन्न है।

इस प्रकार भेद-विज्ञान कर उस चैतन्य प्रभु की क्रमशः पहचान, श्रद्धान, रमणता से अष्टकर्म संयोग भी छूट जाता है। जब तक कर्मों से भिन्न ज्ञायक आत्मा की प्रतीति न होगी, तब तक उसे स्वभाव पर दृष्टि के बल से भिन्न करने का उपक्रम भी कैसे किया जायेगा।

कर्म सिद्धान्त का ज्ञान परंपरा से मोक्ष का कारण—जिस प्रकार क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करे तो दृष्टि पर्याय के क्रम पर न रह कर पर्याय के पुंज को भेदती हुई ज्ञायक—स्वभाव पर केन्द्रित हो जाती है। इसी प्रकार कर्म—सिद्धान्त की सम्यक् जानकारी जब ख्याल मे आती है तो दृष्टि कर्म माहात्म्य को गौण कर अखण्ड ज्ञानपुंज सुखकंद आत्मा में जम जाती है। और स्वभाव-सन्मुख दृष्टि रूपी हंस अन्तर्मुहूर्त मात्र में कर्म और आत्मा को नीरक्षीरवत् भिन्न कर देता है। अब जीव पूर्ण विकसित अन्तरग लक्ष्मी (अनन्त चतुष्टय) का स्वामी और तीन लोक का नाथ बन जाता है।

कर्म—विज्ञान को ख्याल मे लेते हुए भव्य जीव विचार करता है। अहं! हो!! मेरे तपाये हुए सोने के समान शुद्ध स्वरूप में अनादि से यह किट्टकालिमा रूप ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म और शरीरादि नो-कर्म चिपके पड़े हैं। अतः वह स्वभाव-सन्मुख हो ज्ञान-ध्यान तप रूपी अग्नि का आश्रय लेकर कर्म कालिमा को दूर करने के लिए कमर कस लेता है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त मूल की भूल से परिचित करा शाश्वत सुख-शांति का मार्ग-निर्देशन करता है।

२ (ब) २७ जवाहरनगर,
जयपुर

१. स्त्री २. भागीदार

वीर सेवा मन्दिर के वर्तमान पदाधिकारी
तथा
कार्यकारिणी समिति के सदस्य

१. साहू श्री अशोककुमार जैन	अध्यक्ष	६, सरदार पटेल मार्ग, नई दिल्ली
२. श्री ला० श्यामलाल जैन ठेकेदार	उपाध्यक्ष	४-६, टोडरमल रोड, "
३. न्यायमूर्ति श्री मांगेलाल जैन	"	३०, तुगलक क्रोसेण्ट, नई दिल्ली
४. श्री सुभाष जैन	महासचिव	१६ दरियागंज "
५. श्री बाबूलाल जैन	सचिव	२/१० दरियागंज "
६. रत्नत्रयधारी जैन	"	५, अल्का जनपथ लेन "
७. श्री नन्हेंमल जैन	कोषाध्यक्ष	७/३५, दरियागंज "
८. श्री इन्दरसेन जैन	सदस्य	४, अंसारी रोड दरियागंज न. दिल्ली
९. श्री प्रेमचन्द जैन	"	७/३२, दरियागंज नई दिल्ली
१०. श्री शीलचन्द्र जौहरी	"	११ दरियागंज "
११. श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार	"	५-ए/२८ दरियागंज "
१२. श्री गोकुलप्रसाद जैन	"	३ रामनगर पहाड़गंज "
१३. श्री ओमप्रकाश जैन एडवोकेट	"	४७४१/२३ दरियागंज "
१४. श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	"	बी-४५/४७ कनाट प्लेस "
१५. श्री देवकुमार जैन	"	एम-७४ ग्रेटर कैलाश I "
१६. श्री दिग्दर्शन चरण जैन	"	४६६२/२१, दरियाखंज "
१७. श्री हरीचन्द जैन	"	२/२९ " "
१८. श्री प्रकाशचन्द जैन	"	४ अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली
१९. श्री शैलेन्द्र जैनी	"	११, दरियागंज नई दिल्ली
२०. श्री मल्लिनाथ जैन	"	१ " "
२१. श्रीमती जयवन्ती देवी जैन	"	घटा मस्जिद रोड, दरियागंज, नई दिल्ली

R. N. 10391/62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३-००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० पं० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ग्रन्थ में प्रत्येक कलश के अर्थ का विशद-रूप में खुलासा किया गया है। आध्यात्मिक रसिकों को परमोपयोगी है। (प्रेस में)

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

सम्पादन परामर्श मण्डल—**डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द जैन,** सम्पादक—**श्री पद्मचन्द्र शास्त्री**
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए कुमार आदर्श प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।

वर्ष ३४ : कि० ४

अक्टूबर-दिसम्बर १९८१

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

सहस्रकूट जिनचैत्यालय (११वी शती ईस्वी) कारोतलाई

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

इस अंक में—

क्र०	विषय	पृ०
१.	अध्यात्म-पद—कवि० दौलतराम जी	१
२.	जैन परंपरानुमोदित तप: विज्ञान—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२
३.	हिन्दी साहित्य का आदिकाल, एक मूल्यांकन—डा० देवेन्द्रकुमार जैन	६
४.	जय-स्याद्वाद—श्री कल्याणकुमार 'शशि'	८
५.	जैन हिन्दी पूजा काव्य मे चौपाई छन्द—डा० आदित्य प्रचंडिया	६
६.	सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी ग्रन्थ रचनाएं—श्री अगरचन्द नाहटा	११
७.	अनुसन्धान में पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक—डा० दरबारीलाल कोठिया	१२
८.	भ्रम-निवारण—डा० रमेशचन्द्र जैन	२६
९.	जरा सोचिए—सम्पादक	२६
१०.	तीन—श्री बाबूलाल (कलकत्ता वाले)	३३
११.	श्रावक के दैनिक आचार—श्रीमती सुषा जैन	३५
१२.	शंका शल्य—श्री रत्नत्रयधारी जैन	३८
१३.	जीवन्धर चम्पू में आकिञ्चन्य—कु० राका जैन एम० ए०	३६

□□□

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त श्री रत्नत्रयधारी जैन, ८ जनपथ लेन, नई दिल्ली

राष्ट्रीयता—भारतीय

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, वीर सेवा मंदिर २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं रत्नत्रयधारी जैन, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रत्नत्रयधारी जैन
प्रकाशक

आजीवन सदस्यता शुल्क : १०१-०० रु०

वार्षिक मूल्य : ६) इस अंक का मूल्य : १ रुपया ५० पैसे

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक-मण्डल लेखक के विचारों से सहमत हो।

ओम् अर्हम्

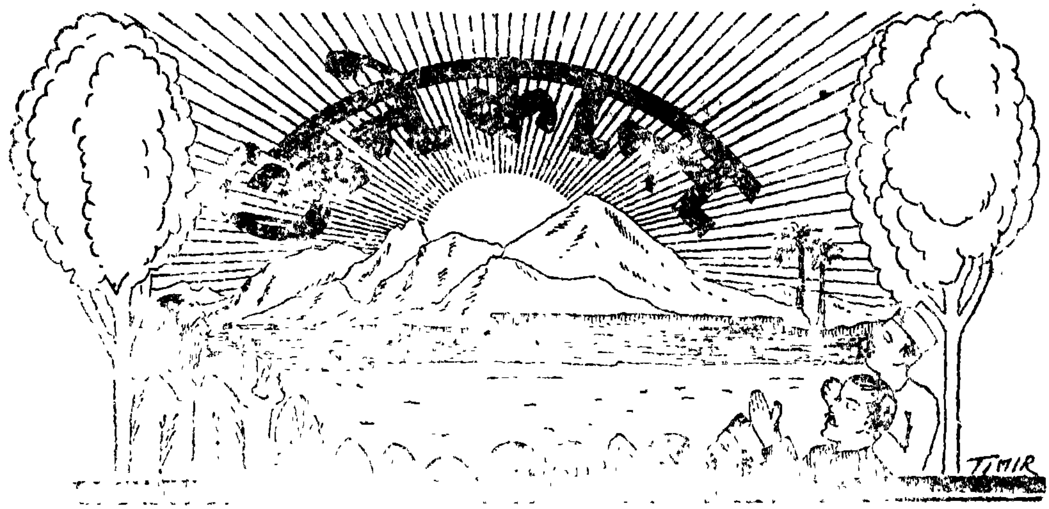

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३४ किरण ४ } वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२ वीर-निर्वाण संवत् २५०७, वि० सं० २०३८ { अक्टूबर-दिसम्बर १९८१

अध्यात्म-पद

चित चितके चिदेश कब, अशेष पर वमूं ।
दुखदा अपार विधि-दुचार-की चमूं दमूं ॥ चित० ॥
तजि पुण्य-पाप थाप आप, आप में रमूं ।
कब राग-आग शर्म-बाग-दागनी शमूं ॥ चित० ॥
दृग-ज्ञान-भान तैं मिथ्या अज्ञानतम दमूं ।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्व सौं छमूं ॥ चित० ॥
जल-मल्ललिप्त-कल सुकल, सुबल्ल परिनमूं ।
दलके त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमूं ॥ चित० ॥
कब ध्याय अज-अमर को फिर न भव विपिन भमूं ।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह हेतु हौं नमूं ॥ चित० ॥

—कविवर दौलतराम कृत,

भावार्थ—हे जिन वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं संपूर्ण विभावों का वमन करूँगा । और दुखदायी अष्टकर्मो की सेना का दमन करूंगा । पुन्य-पाप को छोड़ कर आतम में लीन होऊँगा और कब सुखरूपी बाग को जलाने वाली राग-रूपी अग्नि का शमन करूंगा । सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूपी सूर्य से मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी अंधेरे का दमन करूँगा और समस्त जीवों से क्षमा-भाव धारण करूँगा । मलीनता से युक्त जड़ शरीर को शुक्ल ध्यान के बल से कब छोड़ूंगा और कब मिथ्या-माया-निदान शल्यों को छोड़ मोक्ष पद पाऊंगा । मैं मोक्ष को पाकर कब भव-बन में नहीं घूमूंगा ? हे जिन, मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो इसलिए मैं नमन करता हूँ । □□

जैन परम्परानुमोदित तपः विज्ञान

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन

तपतीति तपः', 'तप्यतेतितपः', 'तापयतीति तपः', इत्यादि रूपों में पुरातन जैनाचार्यों ने तप का शब्दार्थ किया, अर्थात तापना या तपाना प्रक्रिया जहां होती है, वह तप है। सामान्यतया ताप का कारण अग्नि होती है और उसके दो परिणाम होते है, भस्म हो जाना अथवा भस्म कर डालना, शुद्ध कर देना। लोक में तृण काष्ठ कूड़ा आदि त्याज्य, तिरस्कृत, व्यर्थ या अनुपयोगी वस्तुओं को अग्नि में भस्म कर दिया जाता है अथवा किसी धातु को विशेषकर, स्वर्णपाषाण को अग्नि में तपा कर उसके किट्टिमादि मल को दूर किया जाता है उसका शोधन किया जाता है और फलस्वरूप अन्ततः शुद्ध सोटची स्वर्ण प्राप्त होता है। इन लौकिक आधारों पर जैनाचार मे तप का विधान हुआ है—

> विशुद्धयति हुताशेन सदोषमपि काञ्चनम्।
> यद्वत्तथैव जीवोऽयं तप्यमानस्तपोऽग्निना॥

इसीलिए जहां 'तपतीति तपः' कहा, वहां स्पष्ट करने के लिए साथ मे उसका प्रयोजन भी बता दिया— 'विशोधनार्थं' अथवा 'कर्मतापयतीति तपः', 'कर्म निर्दहनात्तपः यथाग्निसंचित तृणादि दहति', उसी प्रकार 'देहेन्द्रिय तापाद्वाकर्मक्षयार्थं तप्यतेतितपः' या 'कर्मक्षयार्थ तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपः', अथवा 'तवरेणामतावयति अनेक भवोपात्तमष्ट प्रकार कर्मेति', 'भवकोडिए संचित कम्म तवसा णिज्जदिज्जई', इत्यादि!

अतएव परिभाषा की गई 'इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः' अर्थात् आत्मोद्बोधनार्थ अपने मन और इन्द्रिय के नियमन के लिए किया गया अनुष्ठान ही तप है।

इस नियमन में सबसे बड़ी बाधा इच्छा है— नानाविध इन्द्रिय-विषयों को भोगने की, अतः उन्हें प्राप्त करने की, जुटाने की संग्रह करने आदि की इच्छा है। मानवी इच्छाएँ अनगिनत है, उनकी कोई सीमा नही है। और एक इच्छा पूरी नही हो पाती कि उसके स्थान में चार नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती है। उनका कोई अन्त नही है। परिणामस्वरूप औसत व्यक्ति इच्छाओ का दास होकर रह गया है। इच्छाओ की पूर्ति के प्रयत्नो मे ही उसका संपूर्ण जीवन बीत जाता है। वह स्वयं बीत जाता है, परन्तु उसकी समस्त इच्छाएँ कभी भी पूर्ण नही होती अनगिनत इच्छाएँ अतृप्त एवं अपूर्ण ही रह जाती है। इसके अतिरिक्त, उक्त इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्नो के प्रसग से वह व्यक्ति अनेक प्रकार की आकुलताओ, कष्टों, चिन्ताओं, राग-द्वेष, मद-मत्सर, ईर्ष्या-जलन, वैर-विरोध, दुराचार, कदाचार, भ्रष्टाचार, पापाचार व अपराधी प्रवृत्तियों मे बुरी तरह उलझा रहता है। उसे स्वय को तो सुख-शान्ति का दर्शन होता ही नही, जो भी अन्य व्यक्ति, परिवार के, पड़ोस के, समाज, नगर, राष्ट्र या कही के भी, उसकी इच्छापूर्ति के प्रयत्नों मे बाधक होते या होते लगते है, उन सबको भी वह अशान्त, दुःखी, क्रुद्ध या क्षुब्ध कर देता है। शोषण, अपराधो, द्वन्द्वो और सहारक युद्धो की जननी इच्छा ही है— विरोधी इच्छाओ के टकराव मे यह सब होता है।

इस शाश्वतिक अनुभूति से प्रभावित होकर श्रमण तीथकरों और उनके अनुयायी निर्ग्रन्थाचार्यों ने 'इच्छानिरोधस्तपः' सूत्र द्वारा इच्छानिरोध को ही तप बताया। जब इच्छाओं का ही, भले ही शनैः शनैः उन्मूलन हो गया तो उनके कारण होने वाले रागद्वेषादि विकारों का, अतः समस्त पाप प्रवृत्तियो का उपशमन होता ही चला जायेगा। फलतः साधक आत्मोन्नयन के पथ पर अग्रसर होता हुआ अपने शुद्ध स्वरूप को, अक्षय सुख-शान्ति की स्थिति अपने परम प्राप्तव्य को प्राप्त कर लेगा। इसी से आध्यात्म-

दृष्टा कुन्दकुन्दाचार्य ने 'समस्त रागादि परभावेच्छा त्यागेन स्वरूपे प्रतपन विजयनं तपः' कहा है। वस्तुतः समस्त रागद्वेषादि विभावों की इच्छा का त्याग करके निज स्वरूप या शुद्ध अनन्तस्वरूप स्वभाव मे देदीप्यमान होना ही सच्चा तप या सच्चे तप का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों मे, विषय-कषायों का निग्रह करके स्वाध्याय व ध्यान मे निरत होते हुए आत्म चिन्तन करने या उसमे लीन होने का नाम ही तप है। ऐसा तप देह एवं इन्द्रियों को तपाता हुआ कर्म को स्वतः नष्ट कर देना है, आत्मा को कर्म-बन्ध से मुक्त करके परमात्मा बना देता है। एक पाश्चात्य विचारक की उक्ति है कि 'इच्छाविहीन मनुष्य ही ईश्वर है—और इच्छावान ईश्वर मनुष्य है।' एक शायर के शब्दों मे—

सरापा आरज़ूओं ने बन्दा कर दिया मुझको।
वगरना हम खुदा थे गर दिले बेमुद्दा होता॥

वास्तव मे, आत्मशोधनार्थ बुद्धिपूर्वक किया गया सम्यक् तप ही मोक्ष पुरुषार्थ है, और उसकी प्रथम शर्त है निःस्पृहता। इच्छाओं का सर्वथा अभाव ही परमात्मा है। 'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव' कषाय मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है! विषय लोलुप व्यक्ति के चित्त मे धर्मांकुर कैसे पनपेगा? संयम-नियम-तप से भावित आत्मा के ही सामायिक संभव है। तपः साधना द्वारा विषय-कषायों का दमन ही सच्ची नमस्कृति भी है -

नहंगो अजदहा शेरेनर मारा तो क्या मारा।
बड़े मूज़ी को मारा नफ्से अम्मारा को गर मारा॥

इसी से साधक अनुभव करता है कि—

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माहं परे हि दम्मंतो बंधणेहि वहेहिं॥

दूसरों के द्वारा मेरा बध-बन्धनादि रूपों मे दमन किया जाये इससे कहीं अच्छा है कि मैं अपनी आत्मा का संयम एवं तप द्वारा दमन कर दूं।

उक्त रागद्वेषादि कषाय या विकार भाव ही जैन दर्शन मे भावकर्म कहलाते हैं और वे ही आत्मा के ज्ञानावरण-दर्शनावरण आदि अष्टविध द्रव्यकर्मों के बंधन मे जकड़े जाने तथा फलस्वरूप जन्म-मरण रूप संसार में निरन्तर संसरण करने एवं अकल्पनीय दुःखों का पात्र बने रहने के कारण होते हैं। ये द्रव्यकर्म जब उदय में आते हैं तो अपना-अपना फल दिखाते हैं। उनके बहाव में आत्मा दुःखी, क्लेषित, आकुल, व्याकुल और रागी द्वेषी होता है, क्रोध-मान-माया-लोभ-काम आदि नाना कषाय भावों में ग्रस्त होता है, तथा परिणामस्वरूप नवीन कर्मबन्ध करता रहता है—

कषायदहनोद्दीप्तं विषयैर्व्याकुलीकृतम्।
सञ्चिनोतिमनः कर्म जन्मसम्बन्धसूचकम्॥

कषाय रूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित और विषयों से व्याकुल मन संसार के बन्धनभूत कर्मों का संचय करता रहता है। कर्म से कर्म बंध का यह सिलसिला बराबर चलता रहता है। जब तक वह समाप्त नहीं होता आत्मा की मुक्ति नहीं होती, वह अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं होती। परन्तु—

निर्वेद पदवीं प्राप्य तपस्यति यथा यथा।
यमी क्षपति कर्माणि दुर्जयानि तथा॥

संयमी आत्मा संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर जैसे-जैसे तपश्चरण में प्रवृत्त होता जाता है वह उक्त दुर्जन कर्मों का क्षय करता जाता है।

अस्तु प्राणी का परम प्राप्तव्य या अभीष्ट लक्ष्य सच्चे शाश्वत निराकुल अक्षय सुख की स्थिति मोक्ष या सिद्धत्व है। उसे प्राप्त करने के लिए नवीन कर्मों के आगे और बंधने के सिलसिले को रोकना आवश्यक है, और इस द्विविध फलप्राप्ति का साधन इच्छानिरोध रूप तपानुष्ठान है। जिन शासन मे तप का फल संवर अर्थात् कर्मास्रव का निरोध और निर्जरा अर्थात् पूर्व मे बंधे हुए कर्मों का क्षय बताया है। यही संक्षेपतः वह तपविज्ञान है जो भौतिकज्ञान, शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान एवं आध्यात्मिक विज्ञान से तथा युक्ति, तर्क और अनुमान से भी साबित एवं सिद्ध है।

यह तपानुष्ठान दो प्रकार का है, बाह्य और अभ्यन्तर, जिनमें से प्रत्येक छः छः भेद हैं—

द्वादशं द्विविधं चैव बाह्याभ्यन्तर भेदतः।
तपं स्वशक्ति प्रमाणेन क्रियते धर्मवेदिभिः॥

अनशन, ऊनोदर (या अवमोदर्य), वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शैयासन और कायक्लेश नामक

रूपों में परम्परया या प्रतिपादित बाह्य तप का लक्ष्य मन तथा इन्द्रियों का ऐसा अनुशासन, नियमन एवं नियन्त्रण करना है कि जिससे वे साधक की साधना मे बाधक नही, वरन् साधक हों।

दूसरे शब्दों में, हम अपनी देह एवं इन्द्रियों के दास न बने रह कर उन्हें ही अपने दास बना लें, उन्हे अपने अधीन एवं वश में ऐसा कर लें कि उनकी ओर से सर्वथा निश्चित हो जाये। यहाँ भी शक्तितस्तप की शर्त लगा कर आचार्यों ने यह स्पष्ट कर दिया कि तप के लक्ष्य को ध्यान मे रख कर उतना और वैसा ही तप किया जाय जितना अपनी शारीरिक स्थिति, शक्ति एवं परिवेश अनुमति दें—हठयोग कृच्छ्रतप या तपातिरेक न करे। बाह्य तपों के विविध अनुष्ठानों द्वारा शरीर और इन्द्रियों को पूर्णतया स्वाधीन बना लेने पर ही अभ्यन्तर या अन्तरंग तपों की साधना की जाती है—

न च बाह्यतपोहीनमभ्यन्तर तपो भवेत्।
तंदुलस्य विक्लित्तिर्नहि वन्ह्यादिकैर्विना॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग एव ध्यान षड्विध आभ्यन्तर तप है। इनमें से प्रथम पांच क्रमशः साधक के चित्त को अहंकारशून्य, विनयी, निरालस, सेवाभावी, ज्ञानाराधक और स्वशरीर के प्रति निर्मोही बना देते हैं जिससे कि उसकी स्वशक्ति इतना विकसित हो जाती है कि वह आत्मध्यान मे स्थिर रह सके। वस्तुतः 'एकाग्रश्चितानिरोधो ध्यानम्'—स्वरूप वाला धर्मध्यान ही शुभ से शुभतर, शुभतम होता हुआ शुद्ध आत्मध्यान रूप में हो जाय, वही वास्तविक तप है। आत्मा की आत्मा द्वारा आत्मतल्लीनता या आत्मरमण ही वह परम समाधि-रूप निर्विकल्प ध्यान-तप ही कर्मक्षय तथा आत्मशोधन मे समर्थ एवं सक्षम है, मुक्ति एव सिद्धि का दाता है। शेष समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर तप तो उसकी सिद्धि मे सहायक एवं साधक शरीर अथवा मन-वचन-काय के नियमन की प्रक्रियाएं हैं।

जैन शास्त्रों में तपनुष्ठान, तपाचार, तपाराधना, तपोविधा, तपविनय, इत्यादि अनेक प्रकार से व्याख्या करके तप का महत्व स्थापित किया गया है। वास्तव में निर्ग्रन्थ श्रमण तीर्थंकरों की संस्कृति ही तपः पूत है। तप जैनी साधना का अनिवार्य अंग है। वह जैन संस्कृति का एक व्यवस्थित विधान है। जैनेतर मनीषियों ने भी यह तथ्य मान्य किया है और यह भी कि अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के हाथों ही इस तप मार्ग का पूर्ण एव चरम विकास हुआ, वह अपनी पूर्णता एवं प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। दूसरी शती ई० के जैनाचार्य समन्तभद्र स्वामि के शब्दों मे—

अपत्यवित्तोत्तर लोकतृष्णया,
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान् पुनर्जन्म-जराजिहासया,
त्रयी प्रवृत्ति समधीरनारुणत्॥

हे महावीर भगवान! कोई संतान के लिए, कोई धन सम्पत्ति के लिए, कोई स्वर्गादि सुखों अथवा अन्य किसी लौकिक तृष्णा की पूर्ति के उद्देश्य से, तप करते है किन्तु आप तो जन्म-जरा की बाधा का परित्याग करने के लक्ष्य से इष्टानिष्ट मे मध्यस्थ रह कर अथवा समत्व भाव धारण करके अपनी मन-वचन-काय रूप त्रयी की प्रवृत्तियों निरोध करते है।

अस्तु आत्मोन्नयन के अभिलाषी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्यक् तप का अभ्यास एव साधना अत्यावश्यक है ऐहिलौकिक सुख-शान्ति के लिए भी और पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए भी। जो मोक्षमार्ग के पथिक गृहत्यागी साधु है वे तो निरन्तर तपानुष्ठान मे ही संलग्न रहते है, उसके एव निष्ट साधक होते है। ऐसे तपस्वी ही प्रशंसित है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

तपः प्रधान संयम का साधक क्षपक ही तपस्वी है, साधु है—मात्र वैसा वेष धारण कर लेने से कोई तपस्वी या साधु नही हो जाता। ऐसे तपोधन मुनिराज ही स्वपर कल्याण के सम्पादक होते हैं। उन समत्वसाधक तपस्वियों से किसी का भी अहित नही होता, वैर-विरोध का तो प्रश्न ही क्या।

किन्तु सामान्य गृहस्थ स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध भी स्वशक्ति अनुसार आंशिक रूप में तप का अल्पाधिक

अभ्यास करने से लाभान्वित होते ही है। अनशन-ऊनोदर आदि बाह्य तपों के अभ्यास से शरीर को स्वस्थ, निरालस कष्टसहिष्णु सहज ही बनाया जा सकता है और प्रायश्चित, विनय, स्वाध्याय आदि आभ्यन्तर तपों के अभ्यास से अपने मन एवं बुद्धि को निर्मल बनाया जा सकता है। अहंकार का अभाव, विनय, परदुःखकातरता, अनुकम्पा, सेवाभाव और निःस्वार्थ दृष्टि की प्राप्ति होती है, अन्तःपरीक्षण तथा चित्तवृत्तियों को एकाग्र करने की क्षमता बढ़ती है। गृहस्थों के मार्गदर्शन के लिए रचित अद्वितीय नीतिकाव्य तिरुकुरल की सूक्ति है कि 'अपनी पीडा सह लेना और अन्य जीवों को पीड़ा न पहुंचाना, यही तपस्या का स्वरूप है।' अन्यत्र भी कहा गया है कि 'दुःख को पी जाना एक श्रेष्ठ तपस्या है।' 'दिन में हजार गम हों पर जबीं पे शिकन न हो।' और 'क्षान्ति तुल्यं तपो नास्ति' —दूसरे के अपराध को सहन करने के बराबर कोई तप नहीं है। महात्मा गांधी की भी उक्ति है कि तपस्या धर्म का पहला और आखिरी कदम है। वास्तव में तप की महिमा महान है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर करके अपने चरित्र को उज्ज्वल तथा पवित्र बनाता है। धीर पुरुष तप द्वारा ही संसार में उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

अब जो व्यक्ति तप के इस निचोड़ को जानता-समझता और आचरता है वह अपने व्यक्तित्व का तो भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करेगा ही, जिन अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में वह आयेगा उनके उन्नयन में भी सहायक होगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अकेला नहीं रहता। अतएव जिस परिवार में ऐसी तप साधना चलती है उस परिवार के सभी सदस्य सुख-शान्ति अनुभव करेंगे, वे अपना ही नहीं, दूसरों का ध्यान, उनकी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखेंगे। जिस समाज में ऐसे तपसाधकों की बहुलता होगी वह समाज भी सुख-शान्ति का अनुभव करेगा, सशक्त होगा, उसमें शोषण, अन्याय और अपराध वृत्ति को स्थान नहीं रहेगा। जिस राष्ट्र के नागरिक, प्रशासक तथा राजनेता ऐसे तपानुष्ठान में आस्था रखेंगे और उसे अपने अपने आचरण में लाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे उस राष्ट्र में आन्तरिक सुख-शान्ति एवं उन्नति तो होगी ही, इतर राष्ट्रों के साथ भी उसके संबंध सहयोग एवं सहअस्तित्व साधक तथा मधुर होंगे। इस संबंध में यह भी ज्ञातव्य है कि सम्यक् तप की साधना वहीं संभव है जहाँ व्यक्ति एवं समाज कुछ विकसित होते हैं। नितान्त असभ्य बर्बर अज्ञ व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समुदाय तो तपश्चरण के महत्व से अनभिज्ञ और उसकी साधना के लिए अयोग्य होते हैं। किन्तु जब व्यक्ति विशेष के जीवन में तप भाव की प्रतिष्ठा हो जाती है तो उसका आध्यात्मिक विकास द्रुतवेग से होने लगता है। जिस समाज में ऐसे व्यक्ति पर्याप्त संख्या में होते हैं, उसमें जो यह साधना नहीं करते वे भी उससे प्रभावित रहते ही हैं और परिणाम स्वरूप उस समाज का विकास उत्तरोत्तर होता ही चला जाता है। अतः तत्संबंधित राष्ट्र का भी समुचित विकास होता है। मानव संस्कृति की उत्कृष्टता का मूलाधार तप साधना ही है।

इस प्रकार, तपानुष्ठान न केवल एक धार्मिक, साम्प्रदायिक व आध्यात्मिक मूल्य ही है, न केवल वैयक्तिक आत्मोन्नयन के लिए परमावश्यक साधन है, वरन् पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हित-सुख संपादन में भी उसका अपरिमित महत्व है। अपने दुःख-कष्टों को समभाव से पी जाना और अन्य किसी को पीड़ा न पहुंचाना, न भरसक पहुंचने देना, यह तप पूत मनोवृत्ति एवं तत् प्रेरित तत्प्रवृत्ति समस्त प्राणियों के हित-सुख की सफल सम्पादिका है।

ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ-१

□□

हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक मूल्यांकन

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की अवधि (१०वीं से १४वीं तक) निर्विवाद है, परन्तु उसके नाम भाषा और चेतना को लेकर भारी विसंवाद है। काल के आधार पर इसके दो नाम हैं—प्रारंभिक काल, आदिकाल। प्रवृत्ति के आधार पर चार नाम हैं—वीरगाथा, चारण, रासो, सिद्धसामंतकाल। लेकिन इनमेसे एक भी नाम—आलोच्यकाल के साहित्य की समग्र चेतना का प्रतिनिधित्व नहीं करता! और जब, प्रारम्भिक युग की प्रवृत्तियों का, जिन पर हिन्दी साहित्य के इतिहास का भवन खड़ा है, निर्धारण न हो, तो बाकी इतिहास कथा विश्वसनीय नहीं रह जाती।

प्रवृत्तियों के निर्धारित न होने के कई कारण हैं। एक,—आलोच्यकाल के साहित्य की भाषा और हिन्दी के सम्बन्ध का निर्णय अभी तक नहीं हो सका। दो—उपलब्ध साहित्य का अभी तक मूल्यांकन नहीं किया जा सका। तीन—आलोच्य साहित्य—हिन्दी प्रदेश के किनारों पर लिखा गया। चार—मध्य देश में जो साहित्य लिखा गया वह प्रक्षिप्त और अप्रमाणिक है। पांच—यह अभी भी विचारणीय है कि साहित्य के इतिहास-लेखन का सही दृष्टिकोण क्या हो?

उक्त प्रश्नों का समाधान खोजे बिना, हिंदी साहित्य का ऐसा इतिहास, लिखा जाना असम्भव है कि जो विवादों से परे हो। स्व० ह० प्र० द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल को इस बात का श्रेय दिया है कि उन्होंने कविवृत्त संग्रह की पिटारी से निकालकर, हिंदी साहित्य के इतिहास को जीवंत प्रवाह से जोड़ा। फिर भी उनको शुक्ल जी से दो शिकायतें हैं। एक तो यह कि उनकी दृष्टि शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों तक सीमित है। दूसरे, उन्होंने बहुत से अपभ्रंश साहित्य को साम्प्रदायिक कह कर उसका उपयोग नहीं किया।

परन्तु जिस समय (१९२९) में शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा उस समय कई बातें अस्पष्ट थी। उस समय विवाद का रूप से बड़ा मुद्दा यह था कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा है या कृत्रिम। महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश साहित्यिक कृतियां मूल रूप में प्रकाशित अवश्य हो चुकी थीं, परन्तु हिन्दी अनुवाद के अभाव में ठेठ हिन्दी-विद्वानों का उनमें प्रवेश करना निपट असभव था। अपभ्रंश और हिन्दी के भाषिक रिश्तों की पहचान अभी होना बाकी थी। इसलिए शुक्ल जी सारी अपेक्षाएँ यदि पूरी नहीं कर सके तो यह उक्त सीमाओं के कारण। लेकिन डा० द्विवेदी के समय (१९५०-६५) सारी स्थितियां स्पष्टतर थीं। कुहासा छट चुका था। उन्हें वह लोकदृष्टि प्राप्त थी जो अशिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्ब बखूबी झांक सकती थी। उनके समय तक हिंदी अनुवाद सहित, महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश कृतियां प्रकाश में आ चुकी थीं, फिर भी उन्होंने आलोच्य युग के मूलभूत साहित्य को नहीं छुआ। उसका अध्ययन—विश्लेषण वे यह कह कर टाल गये कि उक्त साहित्य हिन्दीभाषी प्रदेश के किनारों पर लिखा गया है।

आदिकाल में वह अपभ्रंश के मुक्तक काव्य की चर्चा तो करते हैं जो सिद्ध हेम व्याकरण, प्रबंध-चिंतामणि आदि में बिखरा हुआ है, लेकिन स्वयंभू पुष्पदंत धनपाल जैसे शीर्षस्थ रससिद्ध अपभ्रंश कवियों के एक शब्द को भी उन्होंने नहीं छुआ। पुस्तक में साहित्येतर तथ्यों का विस्तार से उल्लेख है, इस बात की भी विशद चर्चा है कि हिन्दी प्रदेश में अपभ्रंश साहित्य क्यों नहीं लिखा गया,

यदि लिखा भी गया|हो, तो सुरक्षित क्यों नहीं रह सका। यह एक अजीब विरोधाभास है कि जो साहित्य उपलब्ध है उसका विचार नहीं करते हुए जो उपलब्ध नहीं है, उसको और उसके न होने के कारणों की गुहार मचाई जाए ?

आलोच्यकाल के उत्तर काल में मध्यदेश पर चौहान और गाहड़वार वंशों का आधिपत्य था। गाहड़वार उत्तर-पश्चिम से आए थे। वैदिक धर्म के अनुयायी होने के कारण उन्होंने अपभ्रंश तथा देश्य भाषाओं को प्रश्रय नहीं दिया। दूसरे इस क्षेत्र में उस यजनशील ब्राह्मण-व्यवस्था का बोलबाला रहा, जो संस्कृत को सब कुछ मानती थी। यह तो हुई उत्तरकाल की बात लेकिन पूर्वकाल में (१० से १२वीं तक) महीपाल के समय कन्नौज में सभी भाषाओं के कवियों को स्थान प्राप्त था। मध्यदेश के कवि को सर्वभाषा कवि बनना पड़ता था ! राजशेखर के अनुसार टक्क (पंजाब) से लेकर मादानक (वर्तमान ग्वालियर) तक अपभ्रंश ही काव्य की भाषा थी। उस समय जब दक्षिण के राष्ट्रकूटों, बंगाल के पालों, सांभर के चौहानों, मालव के परमारों और गुजरात के सोलंकियों के प्रश्रय में अपभ्रंश कविता लिखी जा रही थी। तब हिन्दी प्रदेश, जो भारत का हृदय देश है, उससे अछूता नहीं रहा होगा। उसकी धड़कनें संस्कृत के अलावा अपभ्रंश में भी मुखरित हुई होंगी, लोक की भाषायें और भावनाएं मानसूनी हवाओं की तरह ऊपर-ऊपर नहीं उड़ती वे हृदय देश से उठ कर आसपास फैली होंगी, और आस-पास की भाषाओं और भावनाओं ने उसका स्पर्श किया होगा। अतः जो नहीं है, उस पर लम्बा-चौड़ा अफ़सोस करने के बजाय, उचित यह था या है कि जो है उसकी गहराई से पड़ताल की जाए ? अटकलबाजी इसी से समाप्त होगी। तथ्य यह है कि आलोच्यकाल की साहित्यिक प्रवृत्तियां, वहीं हैं जो दूसरे काल की हैं। यह युग वदतोव्याघात का युग नहीं है। वदतोव्याघात का अर्थ है—अपने कथन का खंडन स्वयं करना। मुझे पूरे युग के साहित्य में ऐसा कुछ नहीं मिला जिससे उक्त कथन का समर्थन होता हो। यही बात अन्तर्विरोध के बारे में कही जा सकती है। डा० द्विवेदी ने दो चीजों में अन्तर्विरोध दिखाने की चेष्टा की है। एक तो यह कि इस युग में, एक तरफ, अलंकृत शैली को चरम सीमा पर पहुंचाने वाले श्री हर्ष जैसे संस्कृत कवि थे, और दूसरी तरफ, अपभ्रंश दोहाकार थे जिनमे मर्म की बात थोड़े में और सरल ढंग से कहने की क्षमता थी। दूसरा अन्तर्विरोध यह था कि एक ओर दर्शन के दिग्गज आचार्य हुए, तो दूसरी ओर, निरक्षर संतों के ज्ञान प्रचार के बीज इसी काल मे बोए गए। मेरी समझ मे इन दोनों बातों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। एक काल मे एक ही भाषा में दोनों प्रवृत्तियां रह सकती हैं, उनमे न तो परस्पर विरोध है और न आधारगत। कहां संस्कृत जैसी परिनिष्ठित काव्यभाषा और कहां अपभ्रंश भाषा ? श्रीहर्ष की तुलना अपभ्रंश दोहाकारो से करने में कोई औचित्य नहीं है ? अधिकतर हिन्दी विद्वानों को अपभ्रंश साहित्य मे पंक है, अपभ्रंश दोहों तक सीमित है। जहां तक अलंकृत शैली का सवाल है अपभ्रंश कवि पुष्पदंत और स्वयंभू श्रीहर्ष की टक्कर के कवि है। सरस्वती का स्मरण करते हुए पुष्पदंत ने कहा है—

> स लंकारो छंदेण जंति,
> बहु सत्य अत्थ गारव वहंति।
> चउमुह-वासिणी सइजोणी,
> णीसेसहेउ सा सोह-खोणी॥

मेरी वाणी अलंकारों से सजधज कर छंदों में चलती है, अनेक शास्त्रों के अर्थ गौरव को धारण करती है, ब्रह्मा के मुख मे निवास करते हुए भी, शब्द जन्मा है। वह श्रेयस् और सौंदर्य की खान है।" इस प्रकार पुष्पदंत की कविता उस समुद्र की तरह है जिसमें आत्म सौंदर्य और भौतिक सौंदर्य की अनुभूतियों की जलराशि भरी हुई है, जिसमें एक ओर, वीर रस की उद्दाम गर्जनाएँ हैं, तो दूसरी ओर शृंगार की कलगीतियां भी। जिसमें शांत और भक्ति रस की धाराओं का संगम है। जहाँ तक दिग्गज आचार्यों और निरक्षर संतों के सह अस्तित्व का प्रश्न है, इसमें भी कोई अन्तर्विरोध नहीं। वास्तव में निरक्षर सन्तों ने इस काल में ज्ञान प्रचार के बीज अचानक नहीं बोए। सभी निरक्षर न तो अज्ञानी होते हैं, और न सभी साक्षर, ज्ञानी। आध्यात्मिक अनुभव और लोक की

पहचान निरक्षरों को भी हो सकती है। इस काल मे लोक भाषा में ज्ञान प्रचार करने वाले सभी लोग साक्षर ही नहीं पंडित थे, जैन अध्यात्म के दोहाकार, सिद्ध और हठयोगी पंडित थे। यह अवश्य है कि उन्होंने लोकभाषा मे अपनी बात कही। संस्कृत के विरुद्ध लोकप्रचलित वाणी मे अपनी बात कहने की परंपरा बुद्ध महावीर के समय से चली आ रही थी। इतिहास एक जीवंत प्रवाह है, हर प्रवाह का पूर्व स्रोत होता है अतः आलोच्यकाल बीज वपन का काल नहीं था, बल्कि बीज के वृक्ष बनने की प्रक्रिया का काल था। इतना ही नहीं, परवर्ती हिन्दी काव्य में जिन शैलियों का विकास हुआ उनके पूर्वरूप स्वयंभू और पुष्पदंत की रचनाओ मे पूरी प्रामाणिकता से मौजूद है। यदि अपभ्रंश कवियो की पद्धडिया-शैली, दोहा छंद, रड्डाछन्द शैली प्रकाश मे न आती तो लोग यही समझते कि तुलसी की दोहा, चौपाई शैली, कबीर की साखियां और सूर की पद शैली - ईरानी कविता शैली का प्रभाव है—

आलोच्यकाल की साहित्यगत प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में सबसे बड़ा बाधक तत्व है हमारा अधूरा ज्ञान। साहित्य के एक अंग (रासो या देश्य भाषा लिखित) को छूकर या तो हम उसे पूरा हाथी मान लेते है, या फिर यह कहते है कि हाथी समय की धारा मे बह गया है, उसका एक अंग महत्वपूर्ण था, उसे खोजना जरूरी है। एक विद्वान लिखते हैं—इस अंधकार युग को आलोकित करने वाली देशी भाषा की छोटी-सी रचना यदि मिलती है तो उसे चिनगारी की तरह सहेज कर रखना चाहिए क्योंकि उसमें बहुत बड़े आलोक की संभावना है, उसमें युग के पूर्ण मनुष्य को प्रकाशित करने की क्षमता है। अजीब बात है कि जो साहित्य सूर्यबिंब की तरह आलोकित है, उसमें न आलोक है और न पूर्ण मनुष्य को प्रकाशित करने की क्षमता, जो नही है, उसमे सारी संभावनाएं निहित है।

यह सोचना सही नही है कि ९-१०वा सदी से देशी भाषाओं मे तत्सम शब्दों के अत्यधिक प्रवेश के कारण उनका स्वरूप बदल गया। भाषा का स्वरूप शब्दो के प्रवेश से नहीं रचनागत परिवर्तनो के कारण बदलता है। जब कोई नई भाषा साहित्यिक और व्यापक अभिव्यक्ति की माध्यम बनती है तो उसमे तत्सम शब्दो का प्रवेश होगा ही। हिन्दी प्रदेश के एक छोर पर चंदबरदायी खड़े है, दूसरे पर विद्यापति, तीसरे छोर पर स्वयंभू और पुष्पदंत, इनके समानांतर (या कुछ बाद की) दूसरी रचनाएं भी मिलती है, उनके आधार पर कहा जा सकता है, कि जिसे हम वीरगाथा या आदिकाल कहते है, वह वस्तुतः अपभ्रंश काल है, जिसमें परवर्ती साहित्य की शिल्पगत और चेतनागत प्रवृत्तियो का पूर्व रूप देखा जा सकता है। इस काल की भाषा की तरह साहित्य की समग्र मूल्यांकन की आवश्यकता ज्यो की-त्यो बनी हुई है।

इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर

□□

जय-स्याद्वाद

□ श्री कल्याणकुमार 'शशि'

तू ऊर्ध्वोन्नत मस्तक विशाल,
जैनत्व तत्त्व का स्फटिक भाल
अपहृत मिथ्या भ्रमतिमिर जाल
तू जैनधर्म का शंखनाद !
तीर्थंकर पद की निधि ललाम ;
सिद्धान्तवाद का सद्-विराम,
प्राकृत संस्कृति का अमर धाम
तू संस्कृति का निरुपम प्रसाद !

नव युक्तायुक्त-विचार-सार !
नित अनेकान्त का सिंह द्वार,
करते आए तेरा प्रसार !
अतुलित तीर्थंकर-पूज्यवाद !
तू पक्षापक्ष-विरूप-रूप
नय विनिमय का सर्वांग रूप
जूझे तुझसे पण्डित अनूप
गौतम गणधर जैमिनि कणाद !

जय स्याद्वाद जय स्याद्वाद !

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में चौपाई छन्द

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

काव्य-काल की दृष्टि से जैन हिन्दी काव्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अलंकार, छन्द, शब्दशक्ति आदि अंगों का इस काव्य में प्रचुर परिमाण से व्यवहार हुआ है। छंद, काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। काव्य मुख्यतया छन्दबद्ध रचना के लिए आरम्भ से ही प्रसिद्ध है। आचार्य विश्वनाथने छन्द को काव्य-सृजन का अन्यतम अंग अंगीकार किया है।[1] छन्द के अभाव में गत्यात्मक छन्द विन्यास इस प्रकार की लयात्मक माधुरी से मंडित नहीं हो पाता। जिसके द्वारा काव्य का श्रोता अथवा पाठक बरबस विभोर हो झूम उठता है। इस प्रकार उसमें जीवन को आनन्दित करने की शाश्वत सम्पदा मुखर हो उठी है। जैन-हिन्दी-पूजा-काव्य में चौपाई नामक छंद का क्या स्थान है? प्रस्तुत निबन्ध मे इसी सन्दर्भ मे संक्षिप्त विवेचन करना हमारा मूलाभिप्रेत है।

चौपाई मात्रिक सम छंद का एक भेद है।[2] चौपाई मे सोलह कलाएँ होती है। छंद के अन्त में जगण (।ऽ।) और तगण (ऽऽ) नहीं होते है। समकल के अनन्तर विषम कल का प्रयोग वर्जित है।[3] जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने चौपाई के सोलह मात्राओं के चरण में न तो चौकलों का कोई क्रम माना है और न लघु-गुरु का। उन्होंने सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम कल के प्रयोग को अच्छा माना है तथा अन्त मे जगण (।ऽ।) का निषेध किया है।[4]

अपभ्रंश में पद्धरिया छंद में चौपाई का आदिम रूप विद्यमान है।[5] अपभ्रंश की कड़वक शैली जब हिन्दी मे अवतरित हुई तो पद्धरिया छंद के स्थान पर चौपाई छंद गृहीत हुआ है।[6]

हिन्दी में चौपाई छंद का प्रयोग आरम्भ से ही हुआ है।[7] वीर रसात्मक काव्याभिव्यक्ति के लिए यह छंद वीरगाथाकालीन महाकवि चन्दबरदायी द्वारा व्यहृत है। वीररसात्मक प्रसंगों में रीतिकालीन महाकवि केशवदास, जटमल, गोरेलाल, सूदन तथा गुलाब आदि के काव्यों में चौपाई छंद का प्रयोग उल्लिखित है।

प्रेमाख्यानक काव्यधारा के प्रमुख कवि जायसी, उसमान, नूरमोहम्मद तथा कुतुबन द्वारा प्रणीत काव्य कृतियों में इस छंद का प्रयोग परिलक्षित है।

भक्तिकालीन हिन्दी काव्यधारा के प्रमुख कवि सूरदास, नंददास तथा तुलसीदास द्वारा प्रणीत काव्य ग्रन्थो में 'दोहा चौपाई शैली' मे इस छंद का प्रयोग हुआ है।

आधुनिक काल के हिन्दी महाकाव्यों में महाकवि द्वारिका प्रसाद मिश्र ने स्वरचित 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य में चौपाई छंद का व्यवहार किया है।

यह छन्द सामान्यतया वर्णनात्मक है अतः इस छंद में सभी रसों का निर्वाह सहज रूप मे हो जाता है। कथा-काव्यों में इस छंद की लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है।[8]

जैन-हिन्दी-पूजा-काव्यों में इस छंद के दर्शन अठारहवीं शती से होते हैं।[9] अठारहवीं शती के कविवर द्यानतराय ने 'श्री निर्वाणक्षेत्रपूजा' नामक कृति में इस छंद का व्यवहार सफलता पूर्वक किया है।[10]

उन्नीसवीं शती में रामचन्द्र,[11] बख्तावररत्न,[12] कमलनयन[13] और मल्ल जी[14] विरचित काव्यकृतियों में भी यह छंद व्यवहृत है।

बीसवीं शती के रविमल,[15] रघुसुत,[16] नेम,[17] मुन्नालाल,[18] हीराचंद,[19] और दीपचंद[20] ने अपनी पूजा काव्यकृतियों में इस छंद का प्रयोग किया है।

जैन-हिन्दी-पूजा काव्यों में चौपाई का सर्वाधिक प्रयोग

अठारहवीं शती के कविवर द्यानतराय ने शांतरस के परिपाक के लिए किया है।"

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह सहज में कहा जा सकता है कि जैन-हिन्दी पूजा काव्य में चौपाई छंद का आरम्भ से ही प्रयोग हुआ है। जैन-हिन्दी पूजा के लगभग सभी रचयिताओं ने चौपाई छंद का उपयोग किया है। यह छंद जहाँ एक ओर लघुकायिक है वहाँ इसमें सुख-सुख और लयता की सहज धारा प्रवाहन की अद्भुत क्षमता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. 'छन्दोबद्ध पदं पद्यम्'
विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, ६/३१४. चौखम्बा, वाराणसी संस्करण सं० १६७० ।

२. सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड बनारस, संस्क० संवत् २०१५, पृष्ठ २६० ।

३. प्रो० परमानंद शास्त्री, श्री पिंगल पीयूष, प्रकाशक-ओरियण्टल बुक डिपो, १७०५, नई सड़क दिल्ली, संस्क० १६५३ ई०, पृष्ठ १६२ ।

४. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', छंद: प्रभाकर, प्रकाशिका—धर्मपत्नी स्व० बाबू जुगल किशोर, जगन्नाथ प्रिंटिंग प्रेस बिलासपुर, संस्क० १६६० ई०, पृष्ठ ४६ ।

५. (क) डा० हीरालाल अपभ्रंश के महाकाव्य, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, लेख प्रकाशित—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक ३-४, पृष्ठ ११२ ।

(ख) डा० प्रेमसागर जैन, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५, पृष्ठ ४३६ ।

६. (अ) डा० रामसिंह तोमर, जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य की देन, प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, प्रकाशक—यशपाल जैन, मंत्री—प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ समिति, टीकमगढ़ (सी० आई०) संस्क० अक्टूबर १६४६ पृष्ठ ४६८ ।

(ब) डा० महेन्द्र सागर प्रचण्डिया, जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत डी०लिट्० का शोध प्रबन्ध, सन् १६७५ ई०, पृष्ठ २४१ ।

७. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन-हिन्दी काव्य में छंदोयोजना, प्रकाशक—जैन शोध अकादमी, आगरा रोड, अलीगढ़, सन् १६७६ पृष्ठ १४ ।

८. वही पृष्ठ १५ ।

९. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी पूजा काव्य की परम्परा और उसका आलोचनात्मक अध्ययन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध, सन् १६७८ पृष्ठ २८३ ।

१० नमो ऋषभ कैलाश पहारं,
नेमिनाथ गिरनार निहार ।
वासुपूज्य चंपापुर बंदो,
सन्मति पावापुर अभिनंदो ।
—द्यानतराय, श्री निर्वाण क्षेत्र पूजा

११. रामचन्द्र श्री सम्मेद शिखर पूजा ।

१२. बख्तावर रत्न, श्री कुंथुनाथ जिन पूजा ।

१३. मल्ल जी श्री क्षमावाणी पूजा ।

१४. कमलनयन, श्री पंचकल्याणक पूजा पाठ ।

१५ रविमल, श्री तीस चौबीसी पूजा ।

१६. रघुसुत, श्री विष्णुकुमार मुनि पूजा ।

१७. नेम, श्री अकृत्रिम चैत्यालय पूजा ।

१८ मुन्नालाल, श्री खण्डगिरि क्षेत्र पूजा ।

१९. हीराचंद, श्री चतुर्विंशति तीर्थंकर समुच्चय पूजा ।

२०. दीपचंद, श्री बाहुबलि पूजा ।

२१. डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', जैन कवियों द्वारा रचित हिन्दी-पूजा काव्यकी परम्परा और उसका आलोचनात्मक अध्ययन, आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० का शोध प्रबन्ध, सन् १६७८, पृष्ठ २८५ ।

पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१ ।

सम्यक्त्व कौमुदी सम्बन्धी अन्य रचनाएँ

□ श्री अगरचन्द नाहटा

'अनेकान्त' के अप्रैल-सितम्बर १६८१ के अंक में डा० ज्योतिप्रसाद जैन का 'सम्यक्त्व कौमुदी नामक रचनाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमे उन्होंने लिखा है — सम्यक्त्वकौमुदी और सम्यक्त्वकौमुदीकथा नामक अठारह रचनायें ज्ञात हो सकी है जिनमें से आठ संस्कृत १ कन्नड, १ अपभ्रंश और ६ हिन्दी मे रचित है। इनमे से १२ दिगम्बर विद्वानो द्वारा तथा ४ श्वेताम्बर विद्वानो द्वारा है। चारो ज्ञात श्वे० रचनाये संस्कृत मे है। सभव है अन्य भी रचनायें हों जो हमारी जानकारी मे अभी नही आई है।"

हमारी जानकारी मे और भी रचनायें है यथा— जिनरत्नकोष पृष्ठ ४२३ ४२४ मे सम्यक्त्वकौमुदी की सबसे प्राचीनतम प्रति पत्नाब भंडार न० २८१८ वाली सम्वत १३४३ की लिखी हुई बताई है। यदि यह लेखन सम्वत सही हो तो मूल रचना का रचनाकाल ईस्वी १३वी शताब्दी के पीछे का तो हो नहीं सकता। (१) गुणाकरसूरि की रचना संवत १४०० ईस्वी की बतलाई है वह 'जिन रत्नकोष' के अनुसार विक्रम सवत १५०४ की रचना है। उसका परिमाण १४८८ श्लोकों का और रचयिता चंद्रगच्छ के बतलाये है।' (२) जयशेखर सूरि के ग्रंथ का परिमाण ६६५ श्लोको का है। (३) जयचद्र सूरि के शिष्य का नाम डा० ज्योतिप्रसाद जी ने नही दिया है लेकिन जिनरत्नकोष मे उनका नाम जिन हर्षगणि दिया है। और रचनाकार सवत १४६२ की जगह १४८७ दिया है। (४) जिन हर्ष गणि की यह रचना टीका सहित प्रकाशित होने का उल्लेख किया है। टीका सम्वत १४६७ में जयचंद गणि के द्वारा रचित बतलाई है। (५) सोमदेव सूरि के जिनरत्नकोष मे रचना का परिमाण ३३५२ श्लोकों का और वे आगम गच्छ के सिंहदत्त सूरि के शिष्य थे, लिखा है।

इनके अतिरिक्त नं० ४ में 'वत्सराज ऋषि रचना का नाम है पर वह संस्कृत मे नही, राजस्थानी में है। अन्य संस्कृत रचनाओं में मल्लिभूषण, यशकीर्ति, यशसेन कवि, वादिभूषण और श्रुतसागर की रचनायें है। ये दि० होगी संभव हैं।

इसी तरह 'जैन गुर्जर कवियो' भाग १ और ३ में डा० ज्योतिप्रसाद द्वारा अनुल्लिखित ६ राजस्थानी भाषा की पद्यबद्ध रचनाओ का विवरण प्रकाशित हुआ है जिनमे से तीन सत्रहवी शताब्दी की और तीन उन्नसवी शताब्दी की है।

१. सम्यक्त्व कौमुदी रास—१६२४ माघसुदी १५ बुधवार को नागौर के निकट 'डेहू' ग्राम मे रचित। ग्रंथांग १५५०। कर्त्ता-खरतगच्छीय।

२. सम्यक्त्व कौमुदीरास—पार्श्वचंद्रसूरि की परम्परा के बच्छराज के संवत १६४६ माघ सुदी ५ गुरुवार जम्बावती (खंभात) नव खंडों में रचित। विवरण देखें, जैन गुर्जर कवियो भाग १ पृष्ठ २६६।

३. सम्यक्त्व कौमुदी चौपाई—चद्रगच्छ के शीलतिया के शिष्य जयमल्ल रचित सं० १६५२ विक्रमरवदी ६। इस रचना की एक मात्र ३० पन्नो की प्रति हमारे अभय जैन ग्रंथालय मे स० १६५६ की लिखी हुई है।

४. सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई-खरतरगच्छ के महोमहोपाध्याय समयसुन्दर जी की परम्परा में कवि आलमचद रचित। स० १८२२ मिगसर सुदी ४ मक्सूदाबाद शहर मे सामसुखा गोत्रीय जैसलमेरी सुगालचद के पुत्र मूलचद द्वारा कारित।

५. सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई ढाल ६२ खु(कु)शालचन्द ऋषि रचित सं० १८७६ वैशाख सुदी १३ नागौर मे।

(शेष पृष्ठ १२ पर)

अनुसन्धान में पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक

□ डा० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

'श्रमण' मासिक पत्र, वर्ष ३२, अंक ५, मार्च १९८१ में मेरे "जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन" ग्रन्थ की समीक्षा प्रकाशित हुई है। यह ग्रन्थ जून १९८० मे वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी से प्रकट हुआ है। इसका विमोचन भी आचार्य विद्यासागर महाराज के द्वारा उसी जून १७, १९८० को सागर (मध्यप्रदेश) मे समायोजित अनेक समारोहो के अवसर पर हो चुका है। उसकी मासिक, साप्ताहिक आदि पत्रो एवं जर्नलो मे समालोचना भी निकल चुकी है। इन सभी पत्रो और अनेक मनीषियो ने ग्रन्थ की मुक्त कण्ठ से सराहना की है। किन्तु 'तुलसी प्रज्ञा' और 'श्रमण' ने उसकी समीक्षा मे उसके कुछ लेखो को 'दुराग्रहमात्र' कहा है। पर उसके लिए कोई आधार या प्रमाण नही दिया।

'श्रमण' के सम्पादक ने तो कुछ विस्तृत (५ पृष्ठ प्रमाण) समीक्षा करते हुए कुछ ऐसी बाते कही है जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि समीक्षक को समीक्षा करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है, किन्तु उसे यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर समीक्ष्य के गुण-दोषो का पर्यालोचन करे। यही समीक्षा की मर्यादा है।

ज्ञातव्य है कि समीक्षित ग्रन्थ के शोध-निबन्ध और अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनाएँ आज से लगभग ३९ वर्ष पूर्व (सन् १९४२ से १९७७ तक) 'अनेकान्त', जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आदि पत्रो तथा न्यायदीपिका, आप्त परीक्षा आदि ग्रन्थो मे प्रकाशित है। किन्तु विगत वर्षों में 'श्रमण' के सम्पादक डा० सागरमल जैन या अन्य किसी विद्वान् ने उन पर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नही की। अब उन्होने उक्त समीक्षा मे ग्रन्थ के कुछ लेखो के विषयों पर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। परन्तु उसमे अनुसन्धान और गहराई का नितान्त अभाव है। हमे प्रसन्नता होती, यदि वे पूर्वाग्रह से मुक्त होकर शोध और गम्भीरता के साथ उसे प्रस्तुत करते। यहां मैं उनके उठाये प्रश्नो अथवा मुद्दों पर विचार करूँगा और उनकी सरणि को नहीं अपनाऊँगा।

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

६ सम्यक्त्व कौमुदी चौपाई—अनूपचद (२) विनयचन्द रचित पत्र १०७ सं० १८८५ फाल्गुन वदि ७ को रचित।

इस तरह पांच संस्कृत और ६ राजस्थानी श्वे० कवियो के रचित का विवरण जिनरत्नकोष और जैन गुर्जर कवियो मे प्रकाशित हो चुका है। इनमे से जयमल्ल की रचना की एक मात्र प्रति हमारे संग्रह मे ही प्राप्त हुई है। अन्य भण्डारों में विशेष खोज करने पर कुछ अतिरिक्त रचनायें भी मिल सकती है।

एक ही कथा सम्बन्धी ऐसे अनेको जैनग्रंथ छोटे और बड़े प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रश हिन्दी, राजस्थानी, कन्नड़ आदि भाषाओं मे लिखे मिलते है। उन सबका तुलनात्मक अध्ययन एक शोध प्रबंध में ही किया जा सकता है। रचनाओ के परिमाण के काफी अन्तर है अतः कइयों मे सक्षेप से और कइयों मे विस्तार से कथा दी गई होगी। प्रत्येक लेखक अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार कथा मे परिवर्तन और वर्णन मे अन्तर कर देते है। इससे सब ग्रथों को देखने पर ही कथा के मूल स्रोत एव समय-समय पर उसने किये गये परिवर्तनों की जानकारी मिल सकती है। इसके सम्बन्ध मे तुलनात्मक अध्ययन काफी रोचक और ज्ञानवर्धक हो सकता है। सम्यक्त्व कौमुदी की कथाओं का मूल स्रोत क्या और किस प्रकार का रहा है, यह अवश्य ही अन्वेषणीय है।

नाहटों की गवाड़ बीकानेर

□

सम्पादक का प्रथम प्रश्न है कि 'समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा आदि कृतियों मे कुमारिल, धर्मकीर्ति आदि की मान्यताओं का खण्डन होने से उसके आधार पर समन्तभद्र को ही उनका परवर्ती क्यों न माना जाये ?'

स्मरण रहे कि हमने 'कुमारिल और समन्तभद्र' शीर्षक[5] शोध निबन्ध मे सप्रमाण यह प्रकट किया है कि समन्तभद्र की कृतियो (विशेषतया आप्त-मीमांसा) का खण्डन कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों मे पाया जाता है। अतएव समन्तभद्र उक्त दोनो ग्रन्थकारों से पूर्ववर्ती है, परवर्ती नही। यहाँ हम पुन: उसी का विचार करेगे।

हम प्रश्नकर्ता से पूछते है कि वे बतायें, कुमारिल और धर्मकीर्ति की स्वय की वे कौन-सी मान्यताएँ हैं, जिनका समन्तभद्र की आप्तमीमासा आदि कृतियो मे खण्डन है? इसके समर्थन मे प्रश्नकार ने एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। इसके विपरीत दोनो ग्रन्थ-कारो ने समन्तभद्र की ही आप्तमीमांसागत मान्यताओं का खण्डन किया है यहाँ हम दोनो ग्रन्थकारो से कुछ उदाहरण उपस्थित करते है।

(१) जैनागमों[6] तथा कुन्दकुन्द के प्रवचनसार आदि ग्रन्थों[7] में सर्वज्ञ का स्वरूप तो दिया गया है परन्तु अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि उनमें उपलब्ध नही होती। जैन दार्शनिकों में ही नही, भारतीय दार्शनिकों में भी समन्तभद्र ही ऐसे प्रथम दार्शनिक एव तार्किक है, जिन्होने आप्तमीमांसा (का० ३, ४, ५, ६, ७,) मे अनुमान से सामान्य तथा विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

समन्तभद्र ने सर्वप्रथम कहा कि 'सभी तीर्थ प्रवर्तकों (सर्वज्ञों) और उनके समयो (आगमो—उपदेशों मे) परस्पर विरोध होने से सब सर्वज्ञ नही है, 'कश्चिदेव'— कोई ही (एक) गुरु (सर्वज्ञ) होना चाहिए', 'उस एक की सिद्धि की भूमिका बाधते हुए उन्होने आगे (का० ४ मे) कहा कि 'किसी व्यक्ति मे दोषों और आवरणो का नि:शेष अभाव (ध्वंस) हो जाता है क्योंकि उनकी तरतमता (न्यूनाधिकता) पायी जाती है, जैसे सुवर्ण मे तापमान, कूटन आदि साधनो से उसके बाह्य (कालिमा) और आभ्यन्तर (कीट) दोनों प्रकार के मलो का अभाव हो जाता है।' इसके पश्चात् वे कहते है कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष है, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि।' इस अनुमान से सामान्य सर्वज्ञ की सिद्धि करके वे विशेष सर्वज्ञ की भी सिद्धि करते हुए (का० ६ व ७ मे) कहते है कि 'हे वीर जिन ! अर्हन् ! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं और निर्दोष इस कारण हैं, क्योंकि आपके वचनों (उपदेश) में युक्ति तथा आगम का[8] विरोध नही है, जबकि दूसरों (एकान्तवादी आप्तों) के उपदेशों मे युक्ति एवं आगम दोनों का विरोध है, तब वे सर्वज्ञ कैसे कहे जा सकते है। इस प्रकार समन्तभद्र ने अनुमान से सामान्य और विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है। और इसलिए अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना आप्त-मीमांसागत समन्तभद्र की मान्यता है।

आज से एक हजार वर्ष पूर्व (ई० १०२५) के प्रसिद्ध तर्क ग्रन्थकार वादिराज सूरि[9] ने भी उसे (अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करने को) समन्तभद्र के देवागम (आप्त-मीमांसा) की मान्यता प्रकट की है। पार्श्वनाथ चरित में समन्तभद्र के विस्मयावह व्यक्तित्व का उल्लेख करते हुए उन्होंने उनके देवागम द्वारा सर्वज्ञके प्रदर्शन का स्पष्ट निर्देश किया है। इसी प्रकार आ० शुभचन्द्र[10] ने भी देवागम द्वारा देव (सर्वज्ञ) के आगम (सिद्धि) को बतलाया है।

इन असन्दिग्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि करना समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की नि:सन्देह अपनी मान्यता है। और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार उसे शताब्दियों से उनकी ही मान्यता मानते चले आ रहे है।

अब कुमारिल की ओर दृष्टिपात करें। कुमारिल[11] ने सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के सर्वज्ञ का निषेध किया है। यह निषेध और किसी का नहीं, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का है। कुमारिल बड़े आवेग के साथ प्रथमत: सामान्यसर्वज्ञ का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सभी सर्वज्ञ (तीर्थ प्रवर्तक) परस्पर विरोधी अर्थ (वस्तुतत्व) के जब उपदेश करने वाले हैं और जिनके साधक हेतु समान (एक-से) हैं, तो उन सबों में उस एकता निर्धारण कैसे करोगे कि अमुक सर्वज्ञ है और अमुक सर्वज्ञ नही है। कुमारिल उस परस्पर-विरोध को

भी दिखाते हुए कहते हैं कि यदि सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों सर्वज्ञ है, तो उनमें मतभेद कैसा।' इसके अलावा वे और कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि हेतु जिस (सर्वज्ञ) के निषेधक हैं, उन हेतुओं से कौन उस (सर्वज्ञ) की कल्पना (सिद्धि) करेगा।'

यहाँ ध्यातव्य है कि समन्तभद्र के 'परस्पर-विरोधतः' पद के स्थान मे 'विरुद्धार्थोपदेशिषु', सर्वेषां की जगह 'सर्वेषु' और 'कश्चिदेव' के स्थान मे 'को नामैकः' पदों का कुमारिल ने प्रयोग किया है और जिस परस्पर विरोध की सामान्य सूचना समन्तभद्र ने की थी, उसे कुमारिल ने सुगत, कपिल आदि विरोधी तत्त्वोपदेष्टाओं के नाम लेकर विशेष उल्लेख किया है। समन्तभद्र ने जो सभी तीर्थ-प्रवर्तकों (सुगत आदि) मे परस्पर विरोध होने के कारण 'कश्चिदेव भवेद् गुरुः' शब्दो द्वारा कोई (एक) को ही गुरु—सर्वज्ञ होने का प्रतिपादन किया था, उस पर कुमारिल ने प्रश्न करते हुए कहा कि 'जब सभी सर्वज्ञ हैं और विरुद्धार्थोपदेशी है तथा सबके साधक हेतु एक से है, तो उन सबमें से 'को नामैकोऽवधार्यताम्'—किस एक का अवधारण (निश्चय) करते हो।' कुमारिल का यह प्रश्न समन्तभद्र के उक्त प्रतिपादन पर ही हुआ है। और उन्होंने उस अनवधारण (सर्वज्ञ के निर्णय के अभाव) को 'सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा' आदि कथन द्वारा प्रकट भी किया है। यह सब आकस्मिक नही है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र ने अपने उक्त प्रतिपादन पर किसी के प्रश्न करने के पूर्व ही अपनी उक्त प्रतिज्ञा (कश्चिदेव भवेद्गुरु) को आप्तमीमांसा (का० ४ और ५) मे अनुमान-प्रयोगपूर्वक सिद्ध किया है[11]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनुमान प्रयोग में उन्होंने 'अनुमेयत्व' हेतु दिया है जो सर्वज्ञ सामान्य की सिद्धि करता है और जो किसी एक का निर्णायक नहीं है। इसी से कुमारिल ने 'तुल्यहेतुषु सर्वेषु' कह कर उसे अथवा उस जैसे प्रमेयत्व आदि हेतुओं को सर्वज्ञ का अनवधारक (अनिश्चायक) कहा है। इतना ही नही, उन्होने एक अन्य कारिका के द्वारा समन्तभद्र के इस 'अनुमेयत्व' हेतु की तीव्र आलोचना करते हुए कहा[13] कि जो प्रमेयत्व, आदि हेतु सर्वज्ञ के निषेधक हैं, उनसे सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे की जा सकती है।' इसका सबल उत्तर समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के विवृत्तिकार अकलंकदेव ने[14] दिया है। अकलंक कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि तो अनुमेयत्व' हेतु के पोषक है[15]—अनुमेयत्व हेतु की तरह प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञ के सद्भाव के साधक है, तब कौन समझदार उन हेतुओं से सर्वज्ञ का निषेध या उसके सद्भाव मे सन्देह कर सकता है।'

यह सारी स्थिति बतलाती है कि कुमारिल ने समन्तभद्र का खण्डन किया है, समन्तभद्र ने कुमारिल का नही। यदि समन्तभद्र कुमारिल के परवर्ती होते तो कुमारिल के खण्डन का उत्तर स्वयं समन्तभद्र देते, अकलंक को उनका जवाब देने का अवसर नही आता, तथा समन्तभद्र के 'अनुमेयत्व' हेतु का समर्थन करने का भी मौका उन्हे नहीं मिलता।

(२) अनुमान से सर्वज्ञ-सामान्य की सिद्धि करने के उपरान्त समन्तभद्र ने अनुमान से ही सर्वज्ञ-विशेष की सिद्धि का उपन्यास करके उसे 'अर्हन्त' मे पर्यवसित किया है[16]। जैसा कि हम ऊपर आप्तमीमांसा कारिका ६ और ७ के द्वारा देख चुके हैं। कुमारिल ने समन्तभद्र की इस विशेष सर्वज्ञता की सिद्धि का भी खण्डन किया है[17]। अर्हन्त का नाम लिए बिना वे कहते हैं कि 'जो लोग जीव (अर्हन्त) के इन्द्रियादि निरपेक्ष एवं सूक्ष्मादि विषयक केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की कल्पना करते है वह भी युक्त नही है, क्योकि वह आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सम्भव नही है और इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होने के कारण अरहन्तजिन मे भी सर्वज्ञता सिद्ध नही होती।'

ज्ञातव्य है कि जैन अथवा जैनेतर परम्परा मे समन्तभद्र से पूर्व किसी दार्शनिक ने अनुमान से उक्त प्रकार विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की हो ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। हा, आगमों मे केवलज्ञान का स्वरूप अवश्य विस्तारपूर्वक मिलता है, जो आगमिक है, आनुमानिक नही है। समन्तभद्र ही ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने अरहन्त में अनुमान से सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की सिद्धि की है और उसे दोषावरणों से रहित, इन्द्रियादि निरपेक्ष

तथा सूक्ष्मादि विषयक बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिल ने समन्तभद्र की ही उक्त मान्यता का खण्डन किया है। इसका सबल प्रमाण यह है कि कुमारिल के उक्त खण्डन का भी जवाब अकलंक देव ने दिया है"। उन्होंने बड़े सन्तुलित ढंग से कहा है कि 'अनुमान द्वारा सुसिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगम के बिना और आगम केवलज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता, यह सत्य है, तथापि दोनों में अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) प्रतीतिवश से माना गया है। इन (केवलज्ञान और आगम) दोनों मे बीज और अंकुर की तरह अनादि प्रबन्ध (प्रवाह-सन्तान) है'।

अकलंक के इस उत्तर से बिल्कुल स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने जो अनुमान से अरहन्त के केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, उसी का खण्डन कुमारिल ने किया है और जिसका सयुक्तिक उत्तर अकलंक ने उक्त प्रकार से दिया है। केवलज्ञान के साथ 'अनुमानविजृम्भितम्'—'अनुमान से सिद्ध' विशेषण लगा कर तो अकलंक (वि० सं० ७वीं शती) ने रहा-सहा सन्देह भी निरावृत कर दिया है। इस उल्लेख-प्रमाण से भी प्रकट है कि कुमारिल ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का खण्डन किया और जिसका उत्तर समन्तभद्र से कई शताब्दी बाद हुए अकलंक ने दिया है। समन्तभद्र को कुमारिल का परवर्ती मानने पर उनका जवाब वे स्वयं देते, अकलंक को उसका अवसर ही नहीं आता।

(३) कुमारिल ने समन्तभद्र का जहां खण्डन किया है वहां उनका अनुगमन भी किया है"। विदित है कि जैन दर्शन मे वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप माना गया है"। समन्तभद्र ने लौकिक और आध्यात्मिक दो उदाहरणो द्वारा उसकी समर्थ पुष्टि की है"। इन दोनों उदाहरणों के लिए उन्होंने एक-एक कारिका का सृजन किया है। पहली (५९वीं) कारिका के द्वारा उन्होंने प्रकट किया है कि जिस प्रकार घट, मुकुट और स्वर्ण के इच्छुकों को उनके नाश, उत्पाद और स्थिति में क्रमशः शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव होता है और इसलिए स्वर्णवस्तु व्यय, उत्पाद और स्थिति इन तीन रूप है, उसी प्रकार विश्व की सभी वस्तुयें त्रयात्मक हैं। दूसरी (६०वीं) कारिका के द्वारा बतलाया है कि जैसे दुग्धव्रती, दूध ही ग्रहण करता है, दही नहीं लेता और दही का व्रत रखने वाला दही ही लेता है, दूध नहीं लेता है तथा दूध और दही दोनों का त्यागी दोनों को ही ग्रहण नहीं करता और इस तरह गोरस उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तीनों से युक्त है, उसी तरह अखिल विश्व (तत्व) त्रयात्मक है।

कुमारिल ने भी समन्तभद्र की लौकिक उदाहरण वाली कारिका (५९) के आधार पर अपनी नयी ढाई कारिकायें रची है और समन्तभद्र की ही तरह उनके द्वारा वस्तु को त्रयात्मक सिद्ध किया है"। उनकी इन कारिकाओ मे समन्तभद्र की कारिका ५९ का केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही नहीं है, अपितु उनकी शब्दावली, शैली और विचारसरणि भी उनमे समाहित है। समन्तभद्र ने जिस बात को अतिसक्षेप मे एक कारिका (५९) मे कहा है, उसी को कुमारिल ने ढाई कारिकाओं मे प्रतिपादन किया है। वस्तुतः विकास का भी यही नियम है कि वह उत्तरकाल मे विस्तृत होता है। इस उल्लेख से भी स्पष्ट जाना जाता है कि समन्तभद्र पूर्ववर्ती है और कुमारिल परवर्ती।

इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि ई० १०२५ के प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक तर्क ग्रन्थकार वादिराज सूरि" ने अपने न्यायविनिश्चय-विवरण (भाग १, पृ० ४३९) मे समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की उल्लिखित कारिका ५९ को और कुमारिल भट्ट की उपरि चर्चित ढाई कारिकाओं में से डेढ़ कारिका को भी 'उक्तं स्वामिसमन्तभद्रस्तदुपजीविना भट्टेनापि' शब्दों को देकर कुमारिल भट्ट को समन्तभद्र का उपजीवी-अनुगामी स्पष्टतया प्रकट किया है कि एक हजार वर्ष पहले भी दार्शनिक एवं साहित्यकार समन्तभद्र को पूर्ववर्ती और कुमारिल भट्ट को परवर्ती विद्वान मानते थे।

(४) अब धर्मकीर्ति को लीजिए। धर्मकीर्ति (ई० ६३५) ने भी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का खण्डन किया है"। विदित है कि आप्तमीमांसा (का० १०४) मे समन्तभद्र ने स्याद्वाद का लक्षण दिया है" और लिखा है कि 'सर्वथा एकान्त के त्याग से जो 'किंचित्' (कथंचित्) का विधान है वह स्याद्वाद है।' धर्मकीर्ति ने

समन्तभद्र के इस स्याद्वाद लक्षण की बड़े आवेग के साथ समीक्षा की है। उनके 'किंचित् के विधान—स्याद्वाद को अयुक्त, अश्लील और आकुल 'प्रलाप' कहा है।'

ज्ञातव्य है कि आगमों[१६] में 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता, 'गोयमा। जीवा सिय सासया, सिय असासया' जैसे निरूपणों में दो भंगों तथा कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय[१७] में 'सिय अत्थि णत्थि उहयं—' इस गाथा (१४) के द्वारा गिनाये गये सात भंगों के नाम तो पाये जाते है। पर स्याद्वाद की उनमे कोई परिभाषा नही मिलती। समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में ही प्रथमत: उसकी परिभाषा और विस्तृत विवेचन मिलते है। धर्मकीर्ति ने उक्त खण्डन समन्तभद्र का ही किया है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। धर्मकीर्ति का 'तदप्येकान्तसम्भवात्' पद भी आकस्मिक नहीं है, जिसके द्वारा उन्होंने सर्वथा एकान्त के त्याग से होने वाले किंचित् (कथंचित्) के विधान—स्याद्वाद (अनेकान्त) में भी एकान्त की सम्भावना करके उसका—अनेकान्त का खण्डन किया है।

इसके सिवाय धर्मकीर्ति ने समन्तभद्र की उस मान्यता का भी खण्डन किया है,[१८] जिसे उन्होंने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' (का० १५) आदि कथन द्वारा स्थापित किया है।[१९] वह मान्यता है सभी वस्तुओं को सद्-असद्, एक-अनेक, आदि रूप से उभयात्मक (अनेकान्तात्मक) प्रतिपादन करना। धर्मकीर्ति उसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सबको उभयरूप मानने पर उनमें कोई भेद नहीं रहेगा। फलतः जिसे 'दही खा' कहा, वह ऊँट को खाने के लिए क्यों नही दौड़ता? जब सभी पदार्थ सभी रूप हैं तो उनके वाचक शब्द और बोधक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते।'

धर्मकीर्ति के द्वारा किया गया समन्तभद्र का यह खण्डन भी अकलंक को सह्य नही हुआ और उनके उपर्युक्त दोनों आक्षेपों का जवाब बड़ी तेजस्विता के साथ उन्होने दिया है।[२०] प्रथम आक्षेप का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि 'जो विज्ञप्ति मात्र को जानता है और लोकानुरोध से बाह्य—पर को भी स्वीकार करता है और फिर भी सबको शून्य कहता है तथा प्रतिपादन करता है कि न ज्ञाता है, न उसमें फल है और न कुछ अन्य जाना जाता है, ऐसा अश्लील, आकुल और अयुक्त प्रलाप करता है, उसे प्रमत्त (पागल) जड़बुद्धि और विविध आकुलताओं से घिरा हुआ समझना चाहिए।' समन्तभद्र पर किये गये धर्मकीर्ति के प्रथम आक्षेप का यह जवाब 'जैसे को तैसा' नीति का पूर्णतया परिचायक है।

धर्मकीर्ति के दूसरे आक्षेप का भी उत्तर अकलंक उपहासपूर्वक देते हुए कहते है कि 'जो दही और ऊँट मे अभेद का प्रसंग देकर सभी पदार्थों को एक हो जाने की आपत्ति प्रकट करता है और इस तरह स्याद्वाद—अनेकान्तवाद का खण्डन करता है वह पूर्वपक्ष (अनेकान्त-वाद—स्याद्वाद) को न समझ कर दूषक (दूषण देने वाला) होकर भी विदूषक—दूषक नही है, जोकर है। सुगत भी कभी मृग था और मृग भी सुगत हुआ माना जाता है तथापि सुगत को वन्दनीय और मृग को भक्षणीय कहा गया है और इस तरह पर्यायभेद से सुगत और मृग मे वन्दनीय एवं भक्षणीय की भेदव्यवस्था तथा चित्तसन्तान की अपेक्षा से उनमे अभेद व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार प्रतीति बल से—पर्याय और द्रव्य की प्रतीति से सभी पदार्थों मे भेद और अभेद दोनो की व्यवस्था है। अतः 'दही खा' कहे जाने पर कोई ऊँट को खाने के लिए क्यो दौड़ेगा, क्योंकि सत्—द्रव्य की अपेक्षा से उनमे अभेद होने पर भी पर्याय की दृष्टि से उनमे उसी प्रकार भेद है, जिस प्रकार सुगत और मृग मे है। अतएव 'दही खा' कहने पर कोई दही खाने के लिए ही दौड़ेगा, क्योंकि वह भक्षणीय है और ऊंट खाने के लिए वह नही दौड़ेगा, क्योकि वह अभक्षणीय है। इस तरह विश्व की सभी वस्तुओं को उभयात्मक—अनेकान्तात्मक मानने मे कौन-सी आपत्ति या विपत्ति है अर्थात् कोई आपत्ति या विपत्ति नही है।

अकलंक के इन सन्तुलित एवं सबल जवाबों से बिल्कुल असन्दिग्ध है कि समन्तभद्र की आप्तमीमांसागत स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की मान्यताओं का ही धर्मकीर्ति ने खण्डन किया है और जिसका मुंहतोड़, किन्तु शालीन एवं करारा उत्तर अकलंक ने दिया है। यदि समन्तभद्र धर्मकीर्ति के परवर्ती होते तो वे स्वयं उनका जवाब देते और इस स्थिति मे अकलंक को धर्मकीर्ति के उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर देने का मौका ही नहीं आता।

चालीस-पचास वर्ष पूर्व स्व०पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, स्व० पं० सुखलाल संघवी आदि कुछ विद्वानों ने समन्तभद्र को धर्मकीर्ति का परवर्ती होने की सम्भावना की थी।[३०] किंतु अब ऐसे प्रचुर प्रमाण सामने आ गये हैं, जिनके आधार पर धर्मकीर्ति समन्तभद्र से काफी उत्तरवर्ती (३००-४०० वर्ष पश्चात्) सिद्ध हो चुके हैं। इस विषय मे डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एवं डा० हीरालाल जैन का शाकटायन व्याकरण पर लिखा प्रधान सम्पादकीय द्रष्टव्य है।' 'धर्मकीर्ति और समन्तभद्र' शीर्षक हमारा शोधपूर्ण लेख भी अवलोकनीय है,[३१] जिसमें उक्त विद्वानों के हेतुओं पर विमर्श करने के साथ ही पर्याप्त नया अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है। ऐसे विषयों पर हमें उन्मुक्त दिमाग से विचार करना चाहिए और सत्य के ग्रहण मे हिचकिचाना नही चाहिए।

सम्पादक ने दूसरा प्रश्न उठाया है कि 'सिद्धसेन के न्यायावतार और समन्तभद्र के श्रावकाचार मे किसी पद (पद्य) को समान रूप से पाये जाने पर समन्तभद्र को ही पूर्ववर्ती क्यों माना जाय? यह भी तो सम्भव है कि समन्तभद्र ने स्वयं उसे सिद्धसेन से लिया हो और वह उससे परवर्ती हो?

सम्पादक की प्रस्तुत सम्भावना इतनी शिथिल और निर्जीव है कि उसे पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण नही दिया जा सकता और न स्वय सम्पादक ने ही उसे दिया है। अनुसन्धान के क्षेत्र मे यह आवश्यक है कि सम्भावना के पोषक प्रमाण दिये जायें, तभी उसका मूल्यांकन होता है और तभी वह विद्वानो द्वारा आदृत होती है।

यहाँ उसी पर विमर्श किया जाता है। ऊपर जिन समन्तभद्र की बहुत चर्चा की गयी है, उन्ही का रचित एक श्रावकाचार है, जो सबसे प्राचीन, महत्वपूर्ण और व्यवस्थित श्रावकाचार का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके आरम्भ मे धर्म की व्याख्या का उद्देश्य बतलाते हुए उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप बतलाया गया है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप उन्होंने देव, शास्त्र और गुरु का दृढ़ एवं अमूढ़ श्रद्धान् कहा है। अतएव उन्हें इन तीनो का लक्षण बतलाना भी आवश्यक था। देव का लक्षण प्रतिपादन करने के उपरान्त समन्तभद्र ने ९वें पद्य[३२] के द्वारा शास्त्रका लक्षण निरूपित किया है। यह पद्य सिद्धसेन के न्यायावतार में भी उसके ९वें पद्य के रूप में पाया जाता है।

अब विचारणीय है कि यह पद्य श्रावकाचार का मूल पद्य है या न्यायावतार का मूल पद्य है। श्रावकाचार मे यह जहाँ स्थिति है वहाँ उसका होना आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु न्यायावतार में जहाँ वह है वहाँ उसका होना आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वह पूर्वोक्त शब्द-लक्षण (का० ८)[३३] के समर्थन मे अभिहित है। उसे वहाँ से हटा देने पर उसका अंग-भंग नही होता। किन्तु समन्तभद्र के श्रावकाचार से उसे अलग कर देने पर उसका अंग भंग हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त ९वां पद्य, जिसमे शास्त्र का लक्षण दिया गया है, श्रावकाचार का मूल है और न्यायावतार मे अपने विषय (८वें पद्य मे कथित शब्दलक्षण) के समर्थन के लिए उसे वहाँ से ग्रन्थकार ने स्वयं लिया है या किसी उत्तरवर्ती ने लिया है और जो बाद को उक्त ग्रन्थ का भी अंग बन गया। यह भी ध्यातव्य है कि श्रावकाचार मे आप्त के लक्षण के बाद आवश्यक तौर पर प्रतिपादनीय शास्त्र लक्षण का प्रतिपादक अन्य कोई पद्य नही है, जब कि न्यायावतार मे शब्द लक्षण का प्रतिपादक ८वां पद्य है। इस कारण भी उक्त ९वा पद्य (आप्तोपज्ञमनु) श्रावकाचार का मूल पद्य है, जिसका वहा मूल रूप से होना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। तथा न्यायावतार में उसका, ८वें पद्य के समक्ष, मूल रूप मे होना अनावश्यक, व्यर्थ और पुनरुक्तवत है। अत: यही मानने योग्य एवं न्यायसगत है कि न्यायावतार में वह समन्तभद्र के श्रावकाचार से लिया गया है, न कि श्रावकाचार में न्यायावतार से उसे लिया गया है। न्यायावतार से श्रावकाचार में उसे (९वें पद्य को) लेने की सम्भावना बिल्कुल निर्मूल एवं बेदम है।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने पर न्यायावतार मे धर्मकीर्ति[३४] (ई० ६३५), कुमारिल (ई० ६५०)[३५] और पात्रस्वामी (ई० ६ठी, ७वीं शती)[३६] इन ग्रन्थकारों का अनुसरण पाया जाता है और ये तीनों ग्रन्थकार समन्तभद्र के उत्तरवर्ती हैं। तब समन्तभद्र को न्यायावतारकार सिद्धसेन का परवर्ती बतलाना केवल

पक्षाग्रह है। उसमें युक्ति या प्रमाण (आधार) कुछ भी नहीं है।

समीक्षा का तीसरा प्रश्न है कि 'न्यायशास्त्र के समग्र विकास की प्रक्रिया में ऐसा नहीं हुआ है कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणों ने उसका अनुकरण किया हो।' हमें लगता है कि समीक्षक ने हमारे लेख को आपाततः देखा है, उसे ध्यान से पढ़ा ही नहीं है। उसे यदि ध्यान से पढ़ा होता, तो वे ऐसा स्खलित और भड़काने वाला प्रश्न न उठाते। हम पुनः उनसे उसे पढ़ने का अनुरोध करेंगे। हमने 'जैन न्याय का विकास'[१८] लेख में यह लिखा है कि 'जैन न्याय का उद्‌गम उक्त (बौद्ध और ब्राह्मण) न्यायों से नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद श्रुत से हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायों के साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् जैन न्याय के विकास में ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्याय का विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्र-रचना जैन न्याय की क्रमिक शास्त्र-रचना में सहायक हुई हो। समकालीनों में ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।' यहाँ हमने कहाँ लिखा कि पहले जैनन्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणों ने उसका अनुकरण किया। हमें खेद और आश्चर्य है कि समीक्षक एक शोध-संस्थान के निदेशक होकर भी तथ्यहीन और भड़काने वाली शब्दावली का आरोप हम पर लगा रहे हैं। जहाँ तक जैन न्याय के विकास का प्रश्न है उसमें हमने स्पष्टतया बौद्ध और ब्राह्मण न्याय के विकास को प्रेरक बतलाया है और उनकी शास्त्र-रचना को जैन न्याय की शास्त्र-रचना में सहायक स्वीकार किया है। हाँ, जैन न्याय का उद्‌गम उनसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगश्रुत से हुआ। अपने इस कथन को सिद्धसेन (द्वात्रिंशिकाकार)[३९], अकलंक, विद्यानन्द और यशोविजय[४२] के प्रतिपादनों से पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। हम पाठकों, खासकर समीक्षक से अनुरोध करेंगे कि वे उस निबन्ध को गौर से पढ़ने की कृपा करें और सही स्थिति एवं तथ्य को अवगत करें।

डा० सागरमल जी ने चौथे और अन्तिम मुद्दे में मेरे 'तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा' निबन्ध को लेकर लिखा है कि 'अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनमें तत्त्वार्थ सूत्रकार और दिगम्बर आचार्यों में भी मतभेद है। अतः कुछ बातों में तत्त्वार्थ सूत्रकार और अन्य श्वेताम्बर आचार्यों में मतभेद होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि तत्त्वार्थ सूत्रकार श्वेताम्बर परम्परा के नहीं हो सकते।' आगे इस कथन के समर्थन मे कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थ सूत्रकार के नयों और गृहस्थ के १२ व्रतों सम्बन्धी मतभेद को दिया है। इसी मुद्दे में हमारे लेख में आयी कुछ बातों का और उल्लेख करके उनका समाधान करने का प्रयत्न किया है।

इस मुद्दे पर भी हम विचार करते है। प्रतीत होता है कि डा० साहब मतभेद और परम्परा भेद दोनों में कोई अन्तर नहीं मान रहे है, जब कि उनमें बहुत अन्तर है। वे यह तो जानते है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद जैन संघ दो परम्पराओं में विभक्त हो गया—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। ये दोनों भी उप-परम्पराओं मे विभाजित है। किन्तु मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही परम्पराएं है। जो आचार्य दिगम्बरत्व का और जो श्वेताम्बरत्व का समर्थन करते है वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्य कहे जाते है तथा उनके द्वारा निर्मित साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य माना जाता है।

अब देखना है कि तत्त्वार्थसूत्र मे दिगम्बरत्व का समर्थन है या श्वेताम्बरत्व का। हमने उक्त निबन्ध में इसी दिशा मे विचार किया है। इस निबन्ध की भूमिका बांधते हुए उसमे प्राक्‌वृक्ष के रूप मे हमने लिखा है[४१] कि "जहां तक हमारा ख्याल है, सबसे पहले पण्डित सुखलाल जी 'प्रज्ञाचक्षु' ने तत्वार्थ सूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषय में दो लेख लिखे थे और उनके द्वारा तत्वार्थसूत्र और उसके कर्ता को तटस्थ परम्परा (न दिगम्बर, न श्वेताम्बर) का सिद्ध किया था। इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्माराम जी ने कतिपय श्वेताम्बर आगमों के सूत्रों के साथ तत्वार्थ सूत्र के सूत्रों का तथोक्त समन्वय करके 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' नाम से एक ग्रन्थ लिखा और उसमें तत्वार्थ सूत्र को श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ प्रसिद्ध किया जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलाल जी को प्राप्त

हुआ, तो अपने पूर्व (तटस्थ परम्परा) के विचार को छोड़ कर उन्होंने उसे मात्र श्वेताम्बर परम्परा का प्रकट किया तथा यह कहते हुए कि 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा के थे और उनका सभाष्य तत्वार्थ सचेल पक्ष के श्रुत के आधार पर ही बना है।'—'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में हुए, दिगम्बर में नहीं। निःसंकोच तत्वार्थसूत्र और उसके कर्ता को श्वेताम्बर होने का अपना निर्णय भी दे दिया है।''

इसके बाद पं० परमानन्दजी शास्त्री,[४४] पं फूलचन्द्र जी शास्त्री[४५] प० नाथूराम जी प्रेमी[४६] जैसे कुछ दिगम्बर विद्वानो ने भी तत्वार्थसूत्र की जांच की। इनमें प्रथम के दो विद्वानो ने उसे दिगम्बर और प्रेमी जी ने यापनीय ग्रन्थ प्रकट किया। हमने भी उस पर विचार करना उचित एवं आवश्यक समझा और उसी के फलस्वरूप तत्वार्थसूत्र की मूल परम्परा खोजने के लिए उक्त निबन्ध लिखा। अनुसन्धान करने और साधक प्रमाण मिलने पर हमने उसकी मूल परम्परा दिगम्बर बतलायी। समीक्षक ने उन्हे निरस्त न कर मात्र व्याख्यान दिया है। किन्तु व्याख्यान समीक्षा नही कहा जा सकता, अपितु वह अपने पक्ष का समर्थक कहा जायेगा।

तत्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे प्रतिपादित नयों और गृहस्थ के १२ व्रतों में वैचारिक या विवेचन पद्धति का अन्तर है। ऐसा मतभेद परम्परा की भिन्नता को प्रकट नहीं करता। समन्तभद्र, जिनसेन और सोमदेव के अष्टमूल गुण भिन्न होने पर भी वे एक ही (दिगम्बर) परम्परा के है। पात्रभेद एवं कालभेद से उनमें ऐसा विचार-भेद होना सम्भव है। विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थो में प्रत्यभिज्ञान के दो भेद माने हैं और अकलंक, माणिक्यनन्दि आदि ने उसके अनेक (दो से ज्यादा) भेद बतलाये है। और ये सभी दिगम्बर आचार्य हैं। पर तत्वार्थसूत्र और सचेलश्रुत मे ऐसा अन्तर नही है। उनमें मौलिक अन्तर है, जो परम्परा भेद का सूचक है। ऐसे मौलिक अन्तर को ही हमने उक्त निबन्ध मे दिखाया है। संक्षेप मे उसे यहाँ दिया जाता है—

तत्वार्थसूत्र	सचेल श्रुत
१. अदर्शनपरीषह, ९-९-१४	दंसणपरीसह, सम्मत्तपरीसह (उत्तरा० सू० पृष्ठ ८०)
२. एक साथ १९ परीषह, ९-१७	एक साथ बीस परीषह, उत्तरा० त० जैना० पृ. २०८
३. तीर्थंकर प्रकृति के १६ बंध कारण, ६–२४	तीर्थंकर प्रकृति के २० बंध-कारण (ज्ञातृ० सू० ८-६४)
४. विविक्तशय्यासन तप, ९-१९	संलीनता तप, (व्याख्या प्र० सू० २५।७ ८)
५. नाग्न्यपरीषह, ९-९	अचेलपरीषह (उत्तरा० सू०, पृ० ८२
६. लौकान्तिक देवो के ८ भेद ४-४२	लौकान्तिक देवों के ९ भेद (ज्ञातृ, भगवती)

यह ऐसा मौलिक अन्तर है, जिसे श्वे० आचार्यों का मतभेद नही कहा जा सकता। वह तो स्पष्टतया परम्परा भेद का प्रकाशक है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु या अन्य श्वेता० आचार्यों ने सचेल श्रुत का पूरा अनुगमन किया है, पर तत्वार्थसूत्रकार ने उसका अनुगमन नही किया। अन्यथा सचेलश्रुत विरुद्ध उक्त प्रकार का कथन तत्वार्थसूत्र मे न मिलता।

तत्वार्थसूत्र मे 'अचेलपरीषह' के स्थान पर 'नाग्न्य-परीषह' रखने पर विचार करते हुए हमने उक्त निबन्ध मे लिखा था[४७] कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थ मे भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वाति ने उसके स्थान मे नग्नता—सर्वथा वस्त्ररहितता अर्थ को स्पष्टतः ग्रहण करने के लिए 'नाग्न्य' शब्द का प्रयोग किया।' इसका तर्कसंगत समाधान न करके डा० सागरमल जी लिखते है कि 'डा० साहब ने श्वे० आगमों को देखा ही नही है। श्वे० आगमों मे नग्न के प्राकृत रूप नग्न या णगिण के अनेक प्रयोग देखे जाते हैं।' प्रश्न यह नही है कि आगमों में नग्न के प्राकृत रूप नग्न या णगिन के प्रयोग मिलते हैं। प्रश्न यह है कि श्वे० आगमों मे क्या 'अचेल परीषह' की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' उपलब्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर न दे कर केवल उनमें 'नाग्न्य' शब्द के प्राकृत रूपों (नग्न, णगिन) के प्रयोगों की बात करना और हमें श्वे० आगमों से अनभिज्ञ बताना न समाधान हैं और न शालीनता है। वस्तुतः उन्हें यह

बताना चाहिए कि उनमें नाग्न्य परीषह है। किन्तु यह तथ्य है कि उनमें 'नाग्न्य परीषह नही है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने ही उसे 'अचेलपरीषह' के स्थान मे सर्वप्रथम अपने तत्त्वार्थसूत्र में दिया है।

उक्त निबन्ध में परम्पराभेद की सूचक तत्त्वार्थसूत्रगत एक बात यह कही है[४८] कि तत्त्वार्थसूत्र मे श्वे० श्रुतसम्मत संलीनता तप का ग्रहण नही किया, इसके विपरीत उसमें विविक्तशय्यासन तप का ग्रहण है, जो श्वे० श्रुत में नहीं है। हरिभद्रसूरि के[४९] अनुसार संलीनता तप के चार भेदों मे परिगणित विविक्त चर्या द्वारा भी तत्त्वार्थ सूत्रकार के विविक्त शय्यासन का ग्रहण नही हो सकता, क्योंकि विविक्त चर्या दूसरी चीज है और विविक्त शय्यासन अलग चीज है।

डा० सागरमल जी ने हमारे इस कथन का भी अन्धाधुन्ध समीक्षण करते हुए लिखा है कि 'डा० साहब ने विविक्तचर्या में और विविक्तशय्यासन में भी अन्तर मान लिया है, किन्तु किस आधार पर वे इनमें अन्तर करते है, इसका कोई स्पष्टीकरण नही दे पाये हैं, वस्तुतः दोनों में कोई अर्थभेद है ही नहीं।'

उनके इस समीक्षण पर बहुत आश्चर्य है कि जो अपने को श्वे० आगमों का पारंगत मानता है वह विविक्त चर्या और विविक्त शय्यासन के अर्थ मे कोई भेद नहीं बतलाता है तथा दोनों को एक ही कहता है। जैन धर्म का साधारण ज्ञाता भी यह जानता है कि चर्या गमन (चलने) को कहा गया है और शय्यासन सोने एवं बैठने को कहते हैं। दोनों में दो भिन्न दिशाओं की तरह भेद है। साधु जब ईर्यासमिति से चलता है—चर्या करता है तब वह सोता-बैठता नहीं है और जब सोता-बैठता है तब वह चलता नहीं है। वस्तुतः उनमें पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। पर डा० सागरमल जी अपने पक्ष के समर्थन की धुन में उस अन्तर को नही देख पा रहे हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र ने २२ परीषहो मे चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनों को परीषह के रूप में गिनाया है। किन्तु तपों का विवेचन करते हुए उन्होंने चर्या को तप नहीं कहा, केवल शय्या और आसन दोनों को एक बाह्य तप बतलाया है,[५०] जो उनकी सूक्ष्म सिद्धान्तज्ञता को प्रकट करता है। वास्तव में चर्या विविक्त में नही हो सकती। मार्ग में जब साधु गमन करता है तो उसमे उसे मार्गजन्य कष्ट तो हो सकता है और उसे सहन करने से उसे परीषहजय कहा जा सकता है। किन्तु उसमें विविक्तपना नही हो सकता और इसलिए उन्होंने विविक्त चर्या तप नही बतलाया। शय्या और आसन दोनों एकान्त में हो सकते हैं। अतएव उन्हें विविक्त शय्यासन नाम से एक तप के रूप में बाह्य तपों में भी परिगणित किया गया है। डा० सागरमल जी सूक्ष्म विचार करेंगे, तो उनमे स्पष्टतया अर्थभेद उन्हें ज्ञात हो जायेगा। प० सुखलाल जी[५१] ने चर्या और शय्यासन मे अर्थ भेद स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'स्वीकार किये धर्म जीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों मे विहार और किसी भी एक स्थान में नियत वास स्वीकार न करना चर्या परीषह है।'—'आसन लगा कर बैठे हुए ऊपर यदि भय का प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पित भाव से जीतना किंवा आसन से च्युत न होना निषद्या परीषह है'—जगह में समभावपूर्वक शयन करना शय्यापरीषह है।' आशा है डा० साहब चर्या, शय्या, आसन के पण्डित जी द्वारा प्रदर्शित अर्थभेद को नही नकारेंगे और उनके भेद को स्वीकारेंगे।

तत्त्वार्थसूत्र में परम्परा भेद की एक और महत्त्वपूर्ण बात को उसी निबन्ध में प्रदर्शित किया है।[५२] हमने लिखा है कि श्वेताम्बर श्रुत मे तीर्थंकर प्रकृति के २० बन्ध कारण बतलाये हैं और इसमें ज्ञातृ धर्म कथांगसूत्र (८-६४) तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु की आवश्यक निर्युक्ति की चार गाथाएं प्रमाण रूप में दी हैं। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र में तीर्थंकर प्रकृति के १६ ही कारण निर्दिष्ट हैं, जो दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आगम 'षट्खण्डागम (३-१४) के अनुसार हैं और उनका वही क्रम तथा वही नाम है।'

इसकी भी उन्होंने समीक्षा की है। लिखा है कि 'प्रथम तो यह कि तत्त्वार्थ एक सूत्रग्रन्थ है, उसकी शैली संक्षिप्त है, दूसरे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने १६ की संख्या का निर्देश नहीं किया है।' यह लिखने के बाद तत्त्वार्थसूत्र में

सचेल श्रुतपना सिद्ध करने के लिए पुनः लिखा है कि 'आवश्यक निर्युक्ति और ज्ञात धर्मकथा में जिन बीस बोलों का उल्लेख है उनमें जो ४ बातें अधिक है वे है—धर्मकथा, सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति (वात्सल्य), तपस्वी-वात्सल्य और अपूर्वज्ञानग्रहण। इनमें से कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो दिगम्बर परम्परा को अस्वीकृत रही हो, इसलिए छोड़ दिया हो, यह तो मात्र उसकी संक्षिप्त शैली का परिणाम है।'

इस सम्बन्ध में हम समीक्षक से पूछते हैं कि ज्ञातृधर्म-कथा सूत्र भी सूत्रग्रन्थ है, उसमे बीस कारण क्यों गिनाये, तत्त्वार्थसूत्र की तरह उसमे १६ ही क्यों नही गिनाये, क्योंकि सूत्रग्रन्थ है और सूत्रग्रन्थ होने से उसकी भी शैली सक्षिप्त है। तत्वार्थसूत्र मे १६ की संख्या का निर्देश न होने की तरह ज्ञातृधर्म कथासूत्र मे भी २० की संख्या का निर्देश न होने से क्या उसमे २० के सिवाय और भी कारणों का समावेश है? इसका उत्तर समीक्षक के पास नही है। वस्तुतः तत्वार्थसूत्र मे सचेलश्रुत के आधार पर तीर्थंकर प्रकृति के बन्धकारण नही बतलाये, अन्यथा आवश्यक निर्युक्ति की तरह उसमे ज्ञातधर्मकथासूत्र के अनुसार वे ही नाम और वे ही २० संख्यक कारण प्रतिपादित होते। किन्तु उसमें दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम[53] के अनुसार वे ही नाम और उतनी ही १६ की संख्या को लिए हुए बन्धकारण निरूपित है। इससे स्पष्ट है कि तत्वार्थसूत्र दिगम्बर श्रुत के आधार पर रचा गया है और इसलिए वह दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है और उसके कर्ता दिगम्बराचार्य है। उत्सूत्र और उत्सूत्र लेखक श्वेताम्बर परम्परा का अनुसारी नही हो सकता, यह डाक्टर साहब के लिए अवश्य चिन्त्य है।

अब रही तत्वार्थसूत्र में १६ की सख्या का निर्देश न होने की बात। सो प्रथम तो वह कोई महत्व नही रखती, क्योंकि तत्वार्थसूत्र में जिसके भी भेद प्रतिपादित हैं, उसकी संख्या का कही भी निर्देश नही है। चाहे तपो के भेद हों, चाहे परीषहों आदि के भेद हों। सूत्रकार की यह पद्धति है, जिसे सर्वत्र अपनाया गया है। अतः तत्वार्थ सूत्रकार को तीर्थंकर-प्रकृति के बन्ध कारणों को गिनाने के बाद संख्यावाची १६ (सोलह) के पद का निर्देश अनावश्यक है। तत्संख्यक कारणों को गिना देने से ही वह संख्या सुतरां फलित हो जाती है १६ की संख्या न देने का यह अर्थ निकालना सर्वथा गलत है कि उसके न देने से तत्वार्थ सूत्रकार को २० कारण अभिप्रेत हैं और उन्होंने सिद्धभक्ति आदि उन चार बन्ध कारणों का संग्रह किया है, जिन्हें आवश्यक निर्युक्ति और ज्ञातधर्म कथा में २० कारणो (बोलो) के अन्तर्गत बतलाया गया है। डा० सागरमल जी का उससे ऐसा अर्थ निकालना नितान्त भ्रम है। उन्हे तत्वार्थसूत्र की शैली का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि तीर्थंकर प्रकृति के १६ बन्ध कारणों का प्ररूपक सूत्र (त० सू० ६-२४) जिस दिगम्बर श्रुत षट्खण्डागम के आधार से रचा गया है उसमे स्पष्टतया 'दंसणविसुज्झदाए—इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।'—(३-४१, पुस्तक ८) इस सूत्र[54] में तथा उसके पूर्ववर्ती सूत्र[55] (३-४०) मे भी १६ की सख्या का निर्देश है। अतः षट्खण्डागम के इन दो सूत्रों के आधार से रचे तत्वार्थसूत्र के उल्लिखित (६-२४) सूत्र मे १६ की संख्या का निर्देश अनावश्यक है। उसकी अनुवृत्ति वहाँ से सुतरां हो जाती है। सिद्धभक्ति आदि अधिक ४ बातें दिगम्बर परम्परा मे स्वीकृत है या नहीं, यह अलग प्रश्न है। किन्तु यह सत्य है कि वे तीर्थंकर प्रकृति की अलग बन्धकारण नहीं मानी गयीं। सिद्धभक्ति कर्मध्वंस का कारण है तब वह कर्मबन्ध का कारण कैसे हो सकती है। इसी से उसे तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध कारणों मे सम्मिलित नहीं किया। अन्य तीन बातो मे स्थविर भक्ति और तपस्वि वात्सल्य का आचार्य भक्ति एवं साधु-समाधि मे तथा अपूर्वज्ञान ग्रहण का अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग मे समावेश कर लेने से उन्हें पृथक् ग्रहण करने की आवश्यकता नही है। समीक्षक को गम्भीरता और सूक्ष्म अनुसन्धान के साथ ही समीक्षा करनी चाहिए, ताकि नीर-क्षीर न्याय का अनुसरण किया जा सके और एक पक्ष मे प्रवाहित होने से बचा जा सके।

हमने अपने उक्त निबंध मे दिगम्बरत्व की समर्थक एक बात यह भी कही है कि तत्वार्थसूत्र में स्त्रीपरीषह और दंशमशक इन दो परीषहों का प्रतिपादन है, जो अचेलश्रुत के अनुकूल हैं। उसकी सचेल श्रुत के आधार से

रचना मानने पर इन दो परीषहों की तरह पुरुष परीषह का भी उसमें प्रतिपादन होता, क्योंकि सचेल श्रुत में स्त्री और पुरुष दोनों को मोक्ष स्वीकार किया गया है तथा दोनों एक-दूसरे के मोक्ष में उपद्रवकारी हैं। कोई कारण नहीं कि स्त्री परीषह तो अभिहित हो और पुरुषपरीषह अभिहित न हो, क्योंकि सचेल श्रुत के अनुसार उन दोनों में मुक्ति के प्रति कोई वैषम्य नहीं। किन्तु दिगम्बर-श्रुत के अनुसार पुरुष में वज्रवृषभनाराचसंहननत्रय हैं, जो मुक्ति में सहकारी कारण है। परन्तु स्त्री के उनका अभाव होने से उसे मुक्ति संभव नहीं है और इसी से तत्त्वार्थसूत्र में मात्र स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन है, पुरुषपरीषह का नहीं। इसी प्रकार दंशमशक परीषह सचेलसाधु को नहीं हो सकती—नग्न—दिगम्बर— पूर्णतया अचेल साधु को ही संभव है।

समीक्षक ने इन दोनों बातों की भी समीक्षा करते हुए हमसे प्रश्न किया है कि 'जो ग्रन्थ इन दो परीषहों का उल्लेख करता हो, वह दिगम्बर परम्परा का होगा, यह कहना भी उचित नहीं है। फिर तो उन्हें श्वे० आचार्यों एवं ग्रन्थों को दिगम्बर परंपरा का मान लेना होगा, क्योंकि उक्त दोनों परीषहों का उल्लेख तो सभी श्वे० आचार्यों ने एवं श्वे० आगमों में किया गया और किसी श्वे० ग्रन्थ में पुरुषपरीषह का उल्लेख नहीं है।'

समीक्षक का यह आपादन उस समय बिल्कुल निरर्थक सिद्ध होता है जब जैन संघ एक अविभक्त संघ था और तीर्थंकर महावीर की तरह पूर्णतया अचेल (सर्वथा वस्त्र रहित) रहता था। उसमें न एक, दो आदि वस्त्रों का ग्रहण था और न स्त्रीमोक्ष का समर्थन था। गिरि-कन्दराओं, वृक्षकोटरों, गुफाओं, पर्वतों और वनों में ही उसका वास था। सभी साधु अचेलपरीषह को सहते थे। आ० समन्तभद्र (२ री-३ री शती) के अनुसार उनके काल में भी ऋषिगण पर्वतों और उनकी गुफाओं में रहते थे। स्वयम्भूस्तोत्र में २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के तपोगिरि एवं निर्वाणगिरि ऊर्जयन्त पर्वत को 'तीर्थ संज्ञा को वहन करने वाला बतलाते हुए उन्होंने उसे ऋषिगणों से परिव्याप्त कहा है। और उनके काल में भी वह वैसा था।

भद्रबाहु के बाद जब संघ विभक्त हुआ तो उसमें पार्थक्य के बीज आरम्भ हो गये और वे उत्तरोत्तर बढ़ते गये। इन बीजों में मुख्य वस्त्रग्रहण था। वस्त्र को स्वीकार कर लेने पर उसकी अचेल परीषह के साथ संगति बिठाने के लिए उसके अर्थ में परिवर्तन कर उसे अल्पचेल का बोधक मान लिया गया। तथा सवस्त्र साधु की मुक्ति मान ली गयी। फलतः सवस्त्र स्त्री की मुक्ति भी स्वीकार कर ली गयी। साधुओं के लिए स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को सहन करने की आवश्यकता ... हेतु संवर के साधनों में स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन तो ज्यों-का-त्यों बरकरार रखा गया। किन्तु स्त्रियों के लिए पुरुषों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को सहन करने हेतु संवर के साधनों में पुरुषपरीषह का प्रतिपादन सचेल श्रुत में क्यों छोड़ दिया गया, यह वस्तुतः अनुसन्धेय एवं चिन्त्य है। अचेल श्रुत में ऐसा कोई विकल्प नहीं है। अतः तत्त्वार्थसूत्र में मात्र स्त्रीपरीषह का प्रतिपादन होने से वह अचेल श्रुत का अनुसारी है। स्त्रीमुक्ति को स्वीकार न करने से उसमें पुरुषपरीषह के प्रतिपादन का प्रसंग ही नहीं आता। स्त्रीपरीषह और दंशमशकपरीषह इन दो परीषहों के उल्लेखमात्र से ही तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर ग्रन्थ नहीं है, जिससे उनका उल्लेख करने वाले सभी श्वे० आचार्य और ग्रन्थ दिगंबर परंपरा के हो जाने या मानने का प्रसंग आता, किन्तु उपरिनिर्दिष्ट वे अनेक बातें हैं, जो सचेल श्रुत से विरुद्ध हैं और अचेल श्रुत के अनुकूल हैं। ये अन्य सब बातें श्वे० आचार्यों और उनके ग्रन्थों में नहीं हैं। इन्हीं सब बातों से दो परंपराओं का जन्म हुआ और महावीर तीर्थंकर से भद्रबाहु श्रुतकेवली तक एक रूप में चला आया जैन संघ टुकड़ों में बंट गया। तीव्र एवं मूल के उच्छेदक विचार-भेद के ऐसे ही परिणाम निकलते हैं।

दंशमशक परीषह वस्तुतः निर्वस्त्र (नग्न) साधु को ही होना सम्भव है, सवस्त्र साधु को नहीं, यह साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। जो साधु एकाधिक कपड़ों सहित हो, उसे डांस-मच्छर कहां से काटेंगे, तब उस परीषह के सहन करने का उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता। सचेल श्रुत में उसका निर्देश मात्र पूर्वपरंपरा का स्मारक भर है। उसकी सार्थकता तो अचेल श्रुत में ही संभव है।

अतः ये (नाग्न्यपरीषह, दंशमशकपरीषह और स्त्री-परीषह) तीनों परीषह तत्वार्थ सूत्र में पूर्ण निर्ग्रन्थ (नग्न) साधु की दृष्टि से अभिहित हुए है। अतः 'तत्वार्थसूत्र की परंपरा' निबन्ध में जो तथ्य दिये गये है, वे निर्बाध हैं और उसे वे दिगम्बर परंपरा का ग्रन्थ प्रकट करते है। उसमें समीक्षक द्वारा उठायी गयी आपत्तियों में से एक भी आपत्ति बाधक नही है, प्रत्युत वे सारहीन सिद्ध होती है।

समीक्षा के अन्त में हमें कहा गया है कि 'अपने धर्म और संप्रदाय का गौरव होना अच्छी बात है, किन्तु एक विद्वान् से यह भी अपेक्षित है कि वह नीर-क्षीर विवेक से बौद्धिक ईमानदारी पूर्वक सत्य को सत्य के रूप में प्रकट करे। अच्छा होता, समीक्षक समीक्ष्य ग्रन्थ की समीक्षा के समय स्वयं भी उसका पालन करते और 'उमास्वाति श्वेतांबर परंपरा के थे और उनका सभाष्य तत्वार्थ सचेल पक्ष के श्रुत के आधार पर ही बना है।' 'वाचक उमास्वाति श्वेतांबर परंपरा में हुए, दिगबर में नही।' ऐसा कहने वालो के सम्बन्ध में भी कुछ लिखते और उनके सत्य की जांच कर दिखाते कि उसमें कहा तक सचाई, नीर-क्षीर विवेक एव बौद्धिक ईमानदारी है। वास्तव में अनुसन्धान में पूर्वाग्रह की मुक्ति आवश्यक है। हमने उक्त निबन्ध में वे तथ्य प्रस्तुत किये है जो अनुसन्धान करने पर उपलब्ध हुए है। यदि हमारे तथ्य एकपक्षीय हैं तो हमारा अनुरोध है कि अब तक निकले, प्रकाश में आये और जो अभी प्रकाश में आने वाले है उन तमाम उभय पक्ष के निष्कर्षों पर पूर्ण तटस्थ विद्वान् के द्वारा विमर्श एवं अनुसन्धान कराया जाये।

हम डा० सागरमल जी को धन्यवाद देंगे कि उक्त ग्रन्थ की समीक्षा के माध्यम से उन्होने विचार के लिए कई प्रश्न या मुद्दे प्रस्तुत किये, जिन पर हमें कितना ही नया और गहरा विचार करने का अवसर मिला।

दिनांक १५ जुलाई १९८१,
वाराणसी (उ० प्र०)

सन्दर्भ सूची

१. जैन सन्देश, वर्ष ४८, अंक ५३, संघ-भवन, चौरासी, मथुरा, नवम्बर १९८० जैनमित्र, वर्ष ८१ अंक ५२, सूरत, १९८०, जैन बोधक, वर्ष ९६ अंक ५१, १९८०, वीरवाणी, वर्ष ३३, अंक ६, जयपुर, दिसम्बर १९८०, तीर्थंकर, वर्ष १०, अंक ६, इन्दौर अक्टूबर १९८० आदि।

२. कोसल, जर्नल आफ दि इंडियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध, वोल्यूम ३, नं० १,२,१२२२ दिल्ली दरवाजा फैजाबाद, १९८१।

३. खण्ड ६, अंक १०, जनवरी १९८१, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०)।

४. वर्ष ३२, अंक ५, मार्च १९८१, पा० विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५।

५. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, ई० १९४५, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परि० पृ० ५३८, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी-५ जून १९८०।

६. (क) सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मंसमं जाणदि पस्सदि···।—षट् खं० ५.५.६८।

(ख) से भगव अरिहं जिणो केवली सव्वन्नू सव्व-भावदरिसी ··सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वं भावाइ जाणमाणो पासमाणो ·।

—आचारांग० सू०-२ अ० ३

७ प्रवच० सा०, १।४७, ४८, ४९, कुन्दकुन्द भारती, फल्टन, १९७०।

८ तीर्थकृत्समयानां च परस्पर विरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः॥३॥
दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः॥४॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः॥५॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥७॥

—समन्तभद्र, आप्तमी०, ३, ४, ५, ६, ७।

९. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
पार्श्वनाथचरि० १।१७

१०. देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवाऽऽगमः कृतः ।
—पाण्डव पु० ।

११. सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु ।
तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
अथावुभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।
सद्भाववारणे शक्त को न तं कल्पयिष्यति ॥

बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने इन कारिकाओं मे प्रथम की दो कारिकाए अपने तत्वसग्रह (का० ३१४८-४९) मे कुमारिल के नाम से दी है। दूसरी कारिका विद्यानन्द ने अष्टस० पृ० ५ मे 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत की है। तीसरी कारिका मीमांसाश्लोकवार्तिक (चोदयासु०) १३२ है।

१२. आप्तमी का० ४, ५।

१३. मी० श्लो० चो सू०, का० १३२।

१४. 'तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्णाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति सशयितु वा ।'
—अष्टश० का० ५।

१५. अकलंक के उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने भी कुमारिल के खण्डन का जवाब दिया है। उन्होने लिखा है—
एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्वादिलक्षणाः ।
निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥
—तत्वसं० का० ८८५।

१६. आप्तमी० का० ६, ७, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, दि० स० १९७८।

१७. एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥
नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेनागमो विना ।
—मीमांसा श्लो० ८७।

१८. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।
नर्ते तदागमात्सिद्धयेत् न च तेन विनाऽऽगमः ॥
सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।
प्रभवः पौरुषेयोऽस्यप्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥
—न्या० वि० का० ४१२-१३

१९. मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

२०. दव्व सल्लक्खणय उप्पादव्वयधुवत्तसजुतं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥
— कुन्दकुन्द, पंचास्ति०, गा० १०
अथवा—'सद्द्रव्यलक्षणम्', उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।'
—उमास्वाति (गृद्धपिच्छ), त० सू०, ५-२९, ३०।

२१. घट-मौलि-स्वर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥
— आ० मी० का०, ५९, ६०

२२. वर्धमानकभगे च रुचकः क्रियते यदि ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ॥
— मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।

२३. "उक्त स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि — आगे समन्तभद्र की पूर्वोल्लिखित कारिका ५९ और कुमारिल भट्ट की उपर्युक्त कारिकाओं मे से आरम्भ की डेढ कारिका उद्धृत है।
—न्या० वि वि० भाग १, पृ० ४३९।

२४. एतेनैव यत्किंचिदयुक्तमश्लीलमाकुलम् ।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसभवात् ॥
—प्रमाणवा० १-१८२

२५. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥
—आप्तमी० का० १०४।

२६. भूतबली-पुष्पदन्त, षट् ख० १।१।७९।

२७. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तियय।
दव्वं खु सत्तभग आदेसवसेण संभवदि ॥
— पंचास्ति०, गा० १४।

२८. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥
—प्रमाणवि०, १-१८१।

२९. यदचित्ते सदेवेष्ट कथंचिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥
सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
—आप्तमी० का० १४, १५ आदि ।

३०. (क) ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्र परमपि,
च बहिर्भासि भावप्रवादम्, ।
चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि,
सकल नेति तत्वं प्रपेदे ॥
न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च,
फलमपरं ज्ञायते नापि किंचित् ।
इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति,
जडधीराकुल व्याकुलाप्तः ॥
—न्या० वि० १-१६१ ।

(ख) दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।
पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥
सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।
तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ?
—न्या० वि० ३-३७३, ३७४

३१. न्यायकु. द्वि० भा० प्रस्ता० पृ० २७, अकलं० ग्रंथत्रय० प्राक्कथ० पृ० ६, न्यायकु० द्वि० प्रा० पृ० १८-२० ।

३२. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० १२६ से १३३ ।

३३. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥
—रत्न० श्लो० ६ ।

३४. दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः ।
तत्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥

३५. (क) न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सभवः ।
तस्मात्प्रमेयाद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥
– प्र० वा० ३-६३ ।

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधामेयविनिश्चयात् ।
—न्यायाव, श्लो० १ ।

(ख) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।
—न्या० वि० पृ० ११ ।

अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ।
—न्यायाव० श्लो० ५ ।

३६. कुमारिल के प्रसिद्ध प्रमाणलक्षण (तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् । अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥) का 'बाधवर्जितम्' विशेषण न्यायावतारके प्रमाण लक्षण में 'बाधवर्जितम्' के रूप में अनुसृत है ।

३७. पात्रस्वामि का 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि प्रसिद्धहेतुलक्षण न्यायावतारमे 'अन्यथानुपपन्नत्व हेतोर्लक्षणमीरितम्' इस हेतुलक्षणप्रतिपादक कारिकाके द्वारा अपनाया गया है और 'ईरितम्' पद का प्रयोग कर उसकी प्रसिद्धि भी प्रतिपादित की गयी है ।

३८. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७ ।

३९. द्वात्रिंशिका, १-३०, ४-१५ ।

४०. तत्वार्थवा० ८ १, पृ २९५ ।

४१. अष्टस० पृ० २३८ ।

४२. अष्टसह० वि० टी० पृ० १ ।

४३. जैन दर्शन और प्रमाणशा०, पृ० ७६ ।

४४. अनेकान्त, वर्ष, ४ कि० १ ।

४५. वही, वर्ष ४, कि० ११-१२ तथा वर्ष ५, कि० १२ ।

४६. जैन साहित्य का इतिहास, पृ. ५३३, द्वि.सं., १९५६ ।

४७. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ८३ ।

४८. वही, पृ० ८१ ।

४९. व्याख्याप्र० श० २५, उ० ७, सू० ८ की हरिभद्र सूरिकृत वृत्ति । तथा वहीं पृ० ८१ ।

५०. त० सू०, ९-१९ ।

५१. त० सू०, विवेचन सहित, ९-९, पृ० ३४८ ।

५२. जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र प०ि, पृ० ७९ ८० ।

५३. षट्ख०, ३-४०, ४१ पुस्तक ८, पृ० ७८-७९ ।

५४. दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूण पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खण अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥४१॥

५५ तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामगोदकम्मं बधंति ॥४०॥
इन दोनों सूत्रों में १६ की संख्या का स्पष्ट निर्देश है

भ्रम निवारण

□ डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

गोविन्दमठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी से वि० स० २०२२ की विजयादशमी को प्रकाशित ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की सत्यानन्द सरस्वती कृत सत्यानन्दी दीपिका में जैन धर्म के विषय में भ्रान्त सूचनायें दी गई है। उक्त सूचनाओं को पढने पर ऐसा लगता है कि लेखक जैन धर्म के सामान्य सिद्धान्तों से भी अनभिज्ञ है। जैन धर्म की सामान्य जानकारी न रखने वाले पाठक उक्त ग्रन्थ को पढ़ कर जैन धर्म के विषय मे भ्रमित न हों, एतदर्थ उक्त भ्रामक सूचनाओं का निराकरण प्रस्तुत लेख मे दिया जा रहा है—

सत्यानन्दी दीपिका—जीवास्तिकाय तीन प्रकार का है—बद्ध, मुक्त और नित्यसिद्ध। 'अस्ति कायत इति अस्तिकाय:' जो अस्ति शब्द से कहा जाय। वह अस्तिकाय है। यह जैन ग्रन्थों में परिभाषिक शब्द पदार्थवाची है। पुद्गलास्तिकाय छ: है—पृथ्वी आदि चार भूत, स्थावर (वृक्ष आदि) और जङ्गम मनुष्य आदि। 'पूर्यन्ते गलन्तीति पुद्गला:' पूर्ण हो और गल जायें वे पुद्गल हैं। यह लक्षण पृथ्वी आदि छ: और परमाणु समुदाय मे घटता है, अत: वे पुद्गल कहे है। यह लक्षण पृथ्वी आदि छ: और परमाणु समुदाय मे घटता है, अत: वे पुद्गल कहे जाते है। सम्यक् प्रवृत्ति से अनुमेय धर्म है। ऊर्ध्वगमनशील जीव की देह मे स्थिति का हेतु अधर्म है।[1]

निराकरण—जैन धर्म में जीवों को संसारी और मुक्त दो ही भागों मे विभाजित किया गया है, नित्यसिद्ध जैसा कोई विभाजन प्राप्त नही होता है। पुद्गल के अन्तर्गत स्थावर (वृक्ष आदि) और जङ्गम मनुष्य आदि की गणना नही होती, इनका कलेवर अवश्य पौद्गलिक पर्याय है। जैनधर्म में धर्म और अधर्म नामक दो स्वतन्त्र द्रव्य माने गए हैं। जो जीव और पुद्गल की गति में उदासीन निमित्त हो उसें धर्म तथा जो इन्हे ठहराने में उदासीन निमित्त हो, उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं। ऊर्ध्वगमनशील जीव की देह में स्थिति का हेतु अधर्मद्रव्य न होकर आयुकर्म है।

सत्यानन्दी दीपिका—आवरण का अभाव आकाश है। वह लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का है। ऊर्ध्व ऊर्ध्व लोकों के अन्तर विद्यमान आकाश लोकाकाश और उससे भी ऊर्ध्व मोक्षस्थान अलोकाकाश है, वह केवल मुक्त पुरुषों का आश्रयस्थान है। मिथ्या-प्रवृत्ति आस्रव है और सम्यक् प्रवृत्ति सवर और निर्जर है। विषयों के अभिमुख इन्द्रियो की प्रवृत्ति आस्रव है।[2]

निराकरण—अवगाह देने वाले द्रव्य का नाम आकाश है। जितने आकाश मे लोक अवस्थित है, उतने आकाश को लोकाकाश तथा शेष सब आकाश को अलोकाकाश कहते है। अलोकाकाश मुक्त पुरुषों का आश्रय स्थान नही है। अपितु मुक्त पुरुष लोक के अन्त मे रहते है। आस्रव शुभ और अशुभ दोनो प्रवृत्तियों से युक्त होता है। आस्रव का निरोध सवर है तथा कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है।

सत्यानन्दी दीपिका—तत्त्वज्ञान से मोक्ष नही होता, यह विपरीत भावना ज्ञानावरणीय है। अर्हत दर्शन के अभ्यास से मोक्ष नही होता, यह भावना दर्शनावरणीय है। बहुत तीर्थंकरों से परस्पर विरुद्ध प्रदर्शित मार्गों में निश्चयाभाव मोहनीय है। मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति में विघ्नकारक अन्तराय है। ये ज्ञानावरणीय आदि चार कल्याण के घातक होने से घाति—असाधु कर्म कहे जाते है। मुझे यह तत्त्व ज्ञातव्य है, ऐसा अभिमान वेदनीय है, मैं इस नाम का हूं, ऐसा अभिमान नामिक है। मैं पूज्य देशिक अर्हन्त के शिष्य वंश मे प्रविष्ट हूं, यह अभिमान गोत्रिक है और शरीर की स्थिति के लिए कर्म आयुष्क है। तत्त्वज्ञान के अनुकूल होने से ये वेदनीय आदि चारों कर्म तत्त्वावेदक पुण्यवत् शरीर के साथ सम्बन्धी होने से अघाती कर्म—साधु कर्म कहे जाते

हैं। इस प्रकार ये आठों कर्म जन्म के हेतु होने से आस्रव आदि द्वारा पुरुष को बांधते है, अतः बन्धरूप है। समस्त क्लेश कर्मपाश का नाशकर ज्ञान द्वारा सबके ऊपर अलोकाकाश में सतत सुखपूर्वक स्थिति का नाम मोक्ष है अथवा ऊर्ध्वगमनशील जीव धर्माधर्म से मुक्त होकर सतत ऊर्ध्वगमन करता है, यही उसका मोक्ष है।[३]

निराकरण — जो ज्ञान को आवृत करे, वह ज्ञानावरण कर्म है। जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट न होने दे, वह दर्शनावरण है। जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। जो दाता और देय में अन्तर करता है, अर्थात् — दान, लाभ, भोग, और उपभोग और वीर्य मे रुकावट लाता है, वह अन्तराय कर्म है। जो वेदन करता है या जिसके द्वारा वेदा जाता है, वह वेदनीय कर्म है। जो संसारी आत्मा के निमित्त शरीर-आंगोपांगादि की रचना करता है वह नामकर्म है। जिसके द्वारा उच्च नीच कहा जाता है, वह गोत्र कर्म है, जिसके द्वारा यह जीव नरक आदि भवों मे रुका रहता है, वह आयुकर्म है।[४] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये घातिया कर्म कहे जाते है। क्योंकि ये जीव के परिणामों को सर्वदेश घात करते है, अन्य चार कर्म अघातिया कहे जाते हैं — अंश का घात करते हैं; क्योंकि घाति कर्म के अभाव में ये जीव के परिणामों का पूर्ण घात करने मे वे समर्थ नहीं हैं। मोक्षावस्था मे जीव लोक के अन्त में लोकाकाश मे ही विद्यमान रहता है, क्योंकि अलोकाकाश मे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसमे मुक्तजीव की गति नहीं होती।[५]

सत्यानन्दी दीपिका — सब वस्तुओं मे निरंकुश अनेकान्तत्व की प्रतिज्ञा करने वाले के मत में निर्धारण को भी वस्तुत्व के समान होने पर स्यादस्ति स्यान्नास्ति (कथंचित् है और कथंचित् नही है) इस प्रकार विकल्प के प्राप्त होने से अनिर्धारणात्मकत्व होगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का पक्ष मे अस्तित्व होगा और पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसा होने पर प्रमाणभूत होता हुआ भी तीर्थंकर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के अनिर्धारित होने पर उपदेश करने मे कैसे समर्थ होगा? अथवा उसके अभिप्राय का अनुसरण करने वाले शिष्य उसके उपदिष्ट अनिर्धारित रूप अर्थ में कैसे प्रवृत्त होंगे? परन्तु अव्यभिचरित फल का निर्धारण होने पर उसके साधनानुष्ठान के लिए सब लोक अनाकुल — निःसन्देह प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए अनिर्धारित अर्थ वाले शास्त्र का प्रणयन करता हुआ मत्त और उन्मत्त के समान अनुपादेय वचन होगा।[६]

निराकरण — उपर्युक्त तर्क संशय के आधार पर किया गया है। जब दोनों धर्मों की अपने दृष्टिकोणों से सर्वथा निश्चित प्रतीति होती है, तब संशय कैसे कहा जा सकता है? संशय का आकार तो होता है — वस्तु है या नही? परन्तु स्याद्वाद में तो दृढ़निश्चय होता है; वस्तु स्व-स्वरूप से है ही पर रूप मे नही ही है। समग्र वस्तु उभयात्मक है ही। चलित प्रतीति को संशय कहते है, उसकी दृढ निश्चय मे सम्भावना नहीं की जा सकती।[७]

सत्यानन्दी दीपिका — पदार्थों मे अवक्तव्य भी संभव नहीं है यदि अवक्तव्य है तो नहीं कहे जायेंगे, परन्तु कहे जाते है और पुनः अवक्तव्य हैं, यह विरुद्ध है।[८]

निराकरण — जैनधर्म पदार्थों को सर्वथा अवक्तव्य नही कहता, उसकी दृष्टि में पदार्थ कथंचित् वक्तव्य भी है। विरोध तो अनुपलम्भ साध्य होता है अर्थात् जो वस्तु जैसी दिखाई न दे, उसे वैसी मानने पर होता है। जब एक वस्तु मे वक्तव्य, अव्यक्तव्यपना पाया जाता है, तब विरोध कैसा?

सत्यानन्दी दीपिका — शरीर परिमाणत्व होने पर आत्मा अकृत्स्न – असर्वगत–परिच्छिन्न होगा, इससे आत्मा को घट आदि के समान अनित्यत्व प्रसक्त होगा। शरीरों का अनिश्चित परिणाम होने से मनुष्य जीव मनुष्य शरीर परिमाण होकर पुनः किसी कर्मविपाक से हस्ति जन्म प्राप्त कर सम्पूर्ण हस्ति शरीर को व्याप्त नहीं करेगा और चींटी का जन्म पाकर पूर्ण रूप से चींटी को शरीर मे नहा समाएगा। एक जन्म मे भी कौमार, यौवन, वार्द्धक्य यह दोष समान है। पूर्वपक्षी — परन्तु जीव अनन्त अवयव वाला है, उसके वे ही अवयव अल्प शरीर में संकुचित होंगे और बड़े शरीर में विकसित होंगे। उत्तरपक्ष — यदि ऐसा हो तो पुनः जीव के उन अनन्त अवयवों के एकदेशत्व का प्रतिघात होता है या नहीं? यह कहना चाहिए।

प्रतिघात होने पर तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देश में नहीं समायेंगे और अप्रतिघात होने पर भी एक अवयव-देशत्व की आपत्ति होने से सब अवयवों की प्रथिमा—स्थूलता अनुपपन्न होने से जीव को अणुमात्रत्व प्रसङ्ग होगा और शरीरमात्र परिच्छिन्न जीव अवयवों के आनन्त्य की कल्पना नहीं की जा सकती।[६]

निराकरण—जैन दर्शन में प्रत्येक द्रव्य उत्पादन, व्यय ध्रौव्यात्मक है। इस दृष्टि से कथंचित् आत्मा अनित्य है। आत्मा अमूर्त स्वभाव है तो भी अनादिकालीन बन्ध के कारण एकपने को प्राप्त होने से मूर्तिक हो रही है और कार्मण शरीर के कारण वह छोटे बड़े शरीर में रहता है, इसलिए वह प्रदेशों के सकोच और विस्तार स्वभाव वाला है और इसलिए शरीर के अनुसार दीपक के समान उसका लोक के असंख्यातवें भाग आदि में रहना बन जाता है। जिस प्रकार निरावरण आकाश प्रदेश में यद्यपि दीपक के प्रकाश के परिमाण का निश्चय नहीं होता तथापि वह सकोरा, मानसिक तथा आवरण करने वाले दूसरे पदार्थों के आवरण के वश से तत्परिमाण होता है। उसी प्रकार प्रकृत में जानना चाहिए।[१०] जैन दर्शन मे जीव को अनन्त अवयव वाला न मान कर असंख्यात प्रदेशी माना गया है। जैसे घट आदि पदार्थ के रूप आदि गुण जिस स्थान मे देखे जाते है, उसी स्थान में उस घटादि पदार्थ की विद्यमानता प्रतीत की जाती है और उस स्थान से भिन्न स्थान मे उन घटादि की विद्यमानता नही जानी जाती है। इसी प्रकार से आत्मा के जो ज्ञान आदि गुण है वे शरीर मे ही देखे जाते है। शरीर के बाहर नहीं देखे जाते है; इस कारण आत्मा शरीर प्रमाण ही है अर्थात् जितना बड़ा उस आत्मा का शरीर है, उतना बड़ा ही वह आत्मा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका) पृ० ४५५।
२. वही पृ० ४५५।
३. वही पृ० ४५६।
४. सर्वार्थसिद्धि व्याख्या—८।४।
५. धर्मास्तिकायाभावात्—तत्त्वार्थसूत्र १०/८।
६. ब्रह्मसूत्र—शाङ्कराभाष्य (सत्यानन्दी दीपिका) पृ० ४५७।
७. पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : जैन दर्शन पृ० ५७०।
८. सत्यानन्दी दीपिका पृ० ४५८।
९. ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य) सत्यानन्दी दीपिका पृ० ४५९।
१०. प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्—तत्त्वार्थसूत्र ५।१६ —(सर्वार्थसिद्धि व्याख्या)

आप कौन हैं, कहाँ से आए हैं ओर कहाँ जाएँगे ? उक्त प्रश्नों के उत्तर में लौकिकजन साधारणतया लौकिक जाति-पद ग्राम और गन्तव्य नगर आदि का परिचय देने के अभ्यासी हो रहे हैं—वास्तविकता की ओर उनका तनिक भी लक्ष्य नहीं। यदि एक बार भी अपने स्वरूप का बोध हो जाय तो दुख से मुक्ति में क्षण न लगे। जिन जीवों को स्व-बोध हुआ हो वे स्वभावतः जल में भिन्न कमलवत् जीवन यापन करते हैं और उनके अन्तर में सदा स्वरूप चिन्तन रहता है—ऐसे जीवों की गणना 'घर ही में वैरागी' के रूप में होती है। स्व० पण्डित प्रवर श्री टोडरमल जी के शब्दों में ऐसे जीवों का चिन्तन निम्न भांति होता है—

'मैं हूँ जीव द्रव्य नित्य, चेतन स्वरूप मेरो, लाग्यो है अनादि तें कलंक कर्ममल को।
ताही को निमित्त पाय, रागादिक भाव भए, भयो है शरीर को मिलाप जैसे खल को॥
रागादिक भावनि को पायकें निमित्त पुनि, होत कर्म-बंध ऐसो है बनाव कल को।
ऐसे ही भ्रमत भयो मनुष्य शरीर जोग, बनै तो बनै यहाँ उपाय निज थल को॥

जरा सोचिए !

(१) धर्म प्रभावना कैसे हो ?

वीतराग के आगम में परिग्रह के त्याग का विधान है—साधु को पूर्ण अपरिग्रही होने का और गृहस्थ को ममत्वभाव से रहित परिग्रह के परिमाण का उपदेश है। इन्हीं विचारधाराओं को लेकर जब जीवन यापन किया जाता है तब धार्मिकता और धर्म दोनों सुरक्षित होते है। तीर्थंकर की समवसरण विभूति से भी हमें इसकी स्पष्ट झलक मिलती है अर्थात् तीर्थंकर भगवान छत्र, चमर, सिंहासन आदि जैसी विभूति के होने पर भी पृथ्वी से चार अगुल अधर चलते है और बाह्य आडम्बर से अछूते रहते है—अन्तरंग तो उनका स्वाभाविक निर्मल होता ही है। इसका भाव ऐसा ही है कि वहाँ धर्म के पीछे धन दौड़ता है और धर्म का उस धन से कोई सरोकार नही होता। पर, आज परिस्थिति इससे विपरीत है यानी धर्म दौड़ रहा है धन के पीछे।

ऐसी स्थिति मे हमें सोचना होगा कि आज धर्म की मान्यता धर्म के लिए कम और अर्थ के लिए अधिक तो नहीं हो गई है ? तीर्थ यात्राओं मे तीर्थ (धर्म) की कमी और सासारिक मनौतियों की बढ़वारी तो नही है ? मात्र छत्र चढ़ा कर त्रैलोक्य का छत्रपति बनने की माग तो नहीं है ? जिन्हे तीर्थंकरों ने छोडा था उन भौतिक सामग्रियों से लोग चिपके तो नही जा रहे ? कहीं ऐसा तो नही हो गया कि पहिले जहाँ धर्म के पीछे धन दौडता था वहाँ अब धन के पीछे धर्म दौड़ने लगा हो ? कतिपय जन अपने प्रभाव से जनता को बाह्य आडम्बरों की चकाचौध मे मोहित कर कुदेवादि की उपासना का उपदेश तो नहीं देने लगे ? जहाँ तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि के प्रचार-प्रसार हेतु वीतरागी पूर्णश्रुतज्ञानी गणधरों की खोज होती थी वहाँ आज उनका स्थान रागी, राजनीति-पटु और जैन-तत्वज्ञान शून्य-नेता तो नहीं लेने लगे ? आदि। उक्त प्रश्न ऐसे हैं जिनका समाधान करने पर हमे स्वयं प्रतीत हो जायगा कि धर्म का ह्रास क्यों हो रहा है।

धर्म प्रभावना का शास्त्रों में उपदेश है और समाज के जितने अंग हैं—मुनि, व्रतीश्रावक, विद्वान् और अव्रती सभी पर धर्म की बढ़वारी का उत्तरदायित्व है। स्वामी समंतभद्र के शब्दों में—

'अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्ययथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश. स्यात्प्रभावना ॥'—१८॥

अर्थात् अज्ञान-तिमिर के प्रसार को दूर करके, जिन शासन को—जैसा वह है उसी रूप में महत्ता प्रकट करना—प्रभावना है। प्रभावना मे हमें यह पूरा ध्यान रखना परमावश्यक है कि उसमें धर्ममार्ग मलिन तो नहीं हो रहा है। यदि ऐसा होता हो और उपास्य-उपासक का स्वरूप ही बिगड़ता हो तथा सांसारिक वासनाओं की पूर्ति के लिए यह सब कुछ किया जा रहा हो तो ऐसी प्रभावना से मुख मोड़ना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी किसी भी अवस्था में सांसारिक सुख वृद्धि के लिए धर्म-सेवन नहीं करता और न वह मान बड़ाई ही चाहता है। कहा भी है—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामंविनयचैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥'

सम्यग्दृष्टि जीव भय-आशा-स्नेह अथवा लोभ के वशीभूत होकर भी कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं को प्रणाम विनय (आदि) नही करते हैं। आगे ऐसा भी कहा है कि राग द्वेष से मलीन—लोकमान्य चार प्रकार के देवों को देव मान कर किसी भी प्रसंग का उपस्थिति मे उनकी पूजा आरती वीतराग धर्म की दृष्टि से करना देवमूढ़ता है। इसी प्रकार धर्म मूढ़ता और लोक मूढ़ता के त्याग का भी जिन शासन में उपदेश है। यहाँ तो वीतरागता में सहायक साधनों—सु-देव, सुशास्त्र और सुगुरु की पूजा-उपासना की आज्ञा है आर्षज्ञाताओं से धर्मोपदेश श्रवण की आज्ञा है। यदि हम उक्त रीति से अपने आचरण में सावधान रहते हैं तो धर्म-प्रभावना हो धर्म-प्रभावना है। अन्यथा यंत्र-मंत्र-तंत्र करने और सांसारिकसुखों का

प्रलोभन देने वालों की न पहिले कमी थी और न आज कमी है। हमे सोचना है कि हम कौन सा मार्ग अपनाएँ ?

सम्यग्ज्ञान में ये तीनों ही नहीं होते। सम्यग्ज्ञानी जीवादि सात तत्त्वों को यथार्थ जानता है। ज्ञान के विषय मे आचार्य कहते हैं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वों को यथातथ्य जानने वाला ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है। अतः श्रावक व मुनि दोनों को भौतिक ज्ञान की ओर प्रवृत्त न हो—मोक्षमार्ग मे सहायक सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और धर्म प्रभावना करनी चाहिए।

(२) रहस्यपूर्ण चिट्ठी क्या है ?

चिट्ठी हम लिखते हैं, और वे भी लिखते हैं। पर वे दूसरे 'वे' होते है जो रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते है। आप कहेंगे आज भी ऐसी चिट्ठियों का चलन है जो रहस्यपूर्ण और गोपनीय होती हैं। बहुत-सी रहस्यपूर्ण चिट्ठियाँ अनेकों गुप्तचरों द्वारा पकड़ी जाती है, सेन्सर की जाती है और अनेकों रहस्य खोलती हैं। पर, यदि आगम दृष्टि से देखा जाय तो वे चिट्ठियाँ रहस्यपूर्ण नही होती—धोखे को पकड़ने का धोखा भरा साधन मात्र होती हैं। जो लिखता है वह स्वयं धोखे मे रहकर दूसरे को धोखा देता है और पकड़ने वाला उस धोखे को धोखे में पकड़ता है—फलतः न वह रहस्य होता है और ना ही रहस्य को पकड़ने (का दम्भ भरने) वाला रहस्य को पकड़ पाता है।

'रहस्य' शब्द बड़ा रहस्यमय है। इसे रहस्य के पारखी ही जानते हैं। वे जब लिखते है तब रहस्यमय, समझते हैं तब रहस्यमय और कहते है तब भी रहस्यमय। रहस्य वस्तु-स्वरूप मे तिल मे तिल से भी गहरा—पूर्ण रूप से समाया हुआ है। जैन-दर्शन के अनुसार तो हर वस्तु रहस्यमय है तथा हर वस्तु का रहस्य भी अपना और पृथक् है। अपने रहस्य को बतलाने और समझने वाले ही वास्तविक लेखक और वास्तविक वाचक हैं। यदि आप अपना (आत्मा का) रहस्य अंकित करते है तो आप रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखते हैं। पहिले ऐसी चिट्ठियां लिखी जाती रही है और लोग उनका पूर्ण लाभ भी उठाते रहे हैं आगम-मार्ग में रहस्यपूर्ण चिट्ठी वे हैं जो प्रयोजनभूत—आत्मा का रहस्य खोलती हैं। ऐसी चिट्ठियों में हमें एक चिट्ठी पं० प्रवर टोडरमल जी की मिलती है, जो उन्होंने मुल्तान के अध्यात्मिक श्रावकों को लिखी थी। वे लिखते है—

'वर्तमानकाल में अध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य है जो स्वात्मानुभव की वार्ता भी करे है, सो ही कहा है—

'तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चित सः भवेद्भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम्॥

भाव यह है कि जिस जीव ने प्रसन्नचित्त होकर इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात सुनी है वह निश्चय—भव्य है और निर्वाण का पात्र है।"

पाठक देखें कितना रहस्य है इन चन्द पंक्तियों में ? विचारने पर क्या ये अन्तरंग को झकझोर कर जगाने के लिए पर्याप्त नही हैं ? जो इन्हें पढ़ेगा-विचारेगा अनुभव में लाएगा वह अवश्य ऐसे रहस्य को पाएगा जिसे कोटि-कोटि तपस्वियों ने कोटि-कोटि तपस्याए करके भी कठिनता से पाया हो।

अपनी चिट्ठी में पं० प्रवर ने किन-किन रहस्यों को खोला है ये हम आगे लिखेंगे ये प्रसंग तो रहस्यपूर्ण चिट्ठी की परिभाषा मात्र का था। अस्तु।

(३) सम्यग्ज्ञान क्या है ?

मोक्ष मे प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। श्रावक और मुनि दोनों में इस ज्ञान का होना आवश्यक है, बिना इस ज्ञान के वह मोक्ष का उपाय नही कर सकता और ना ही उसका ज्ञान सार्थक हो सकता है। लोक में भौतिक-सांसारिक विषयों की खोज और उनमें प्रवृत्ति के सूचक जो ज्ञान देखे जाते हैं और जिनके आधार से ज्ञानी की पहिचान की जाती है—वे सभी ज्ञान आत्म-मार्ग में सहायी न होने से मिथ्या ज्ञान की श्रेणी में आते है—लोकव्यवहार में चाहे वे सही भी क्यों न हों ?

ज्ञान के मिथ्या या सम्यक् होने में मूल कारण मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन है और इसीलिए आचार्यों

ने सम्यग्दर्शन को प्रथम रखा है। भाव ऐसा है कि मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीव-अजीव-आस्रव बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वों को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित याथातथ्य- जैसे का तैसा जानना सम्यक् ज्ञान है। पंडित प्रवर टोडरमल जी ने इस विषय को इस भांति स्पष्ट किया है—'बहुरि यहाँ ससार' मोक्ष के कारणभूत सांचा भूठा जानने का निर्द्धारण करना है, सो जेवरी-सर्पादिक का यथार्थ वा अन्यथा ज्ञान समार, मोक्ष का कारण नाही तातै तिनकी अपेक्षा इहाँ मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान न कह्या। इहाँ प्रयोजनभूत जीवादिक तत्त्वनि ही का जानने की अपेक्षा मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान कह्या है।' धूप मे चमकती हुई सीप को देख कर ऐसा विकल्प करना कि यह सीप है या चांदी—संशय कहलाता है। चमकती हुई सीप को चांदी रूप जानने का नाम विपर्यय—उल्टा ज्ञान है: और मार्ग मे चलते हुए यदि पैर में कोई तिनका चुभ जाय तो उसमे विकल्प उठा कर कि ये क्या है, उसी क्षण (बिना निर्धारण के) उपेक्षा भाव लाकर आगे बढ़ जाना—कि कुछ होगा, यह अनध्यवसाय है। सम्यग्ज्ञान मे ये तीनो भी नही होते। और सम्यग्ज्ञान के लक्ष्य, प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्व होते है।

(४) आप इतने क्रूर तो न थे ?

(भगवान महावीर का अहिंसामयी धर्म पालन करने के लिए हमे अपने दैनिक जीवन मे पर्याप्त परिवर्तन लाना होगा—हिंसाजन्य सौन्दर्य प्रसाधन सामग्रियों का सर्वथा परित्याग करना होगा। विविध सौन्दर्य प्रसाधन किस भांति और किन जीवों की बलि देकर निर्मित किए जाते हैं, इसकी संक्षिप्त झलक 'इनकी जिन्दगी आपका फैशन' से चुन कर यहाँ दी जा रही है—आशा है महावीर के अनुयायी इससे लाभान्वित होंगे) —संपादक

१. बिज्जू का सैण्ट—

बिज्जू नामक जानवर बिल्ली से बहुत छोटा होता है। बहुत कम लोगो ने इसे जंगल मे देखा होगा। चिड़ियाघरों मे भले ही देखा हो। इस छोटे से जानवर को बेतों से पीटा जाता है ताकि यह उद्वेलित हो जाय। उद्विग्न अवस्था मे इसके शरीर से वह तरल पदार्थ निकलने लगता है जिसमें से सुगन्ध निचोड़ा जाता है और उसकी ग्रन्थी को चाकू से खरोंचा जाता है।

सौन्दर्य प्रसाधन—

"स्लैन्डर लोरिस" नामक छोटा सा बन्दर जो भारत में अब बहुत कम सख्या मे रह गया है क्योंकि इसका शिकार अत्यधिक किया जा चुका है। इसकी आंखें बाहर निकाल ली जाती है। इसका दिल बाहर निकाल लिया जाता है। इन दोनो को पीस कर सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाई जाती है।

कोट कपड़े आदि—

चूहे जैसा ही जानवर होता है 'बीवर'। इसके शरीर से निकला तेल सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री बनाने में काम आता है। इसकी खाल के कोट बनते है। छोटा-सा यह जानवर रुमाल बराबर है। करीब ६० ऐसे जानवरों की खाल से एक व्यक्ति का कोट बनता है।

सील—

सील मछली के बच्चो के साथ भी क्रूरता कुछ कम नही होती है। कनाडा मे बेसबाल खेलने के बल्ले जैसे डण्डे से इस मछली के बच्चो की लगातार तब तक पिटाई की जाती है जब तक वे मर न जाएं। नारवे में तो लोहे की तीखी सलाख सील के बच्चो के सिर मे घुसा दी जाती है और उसकी खाल तुरन्त उतारने के लिए उसे चीर दिया जाता है। बेचारी मा अपने शिशु के क्रन्दन को सुनती रहती है। जब शिकारी चले जाते हैं तो वह अपने शिशु के अस्थिपंजर के समीप आकर अपने मुंह से उस लहूलुहान के पिण्ड को सूघती है। कहाँ गया उसका शिशु ? वह तो सदा के लिए विलुप्त होगया। खाल किसी रईस का कोट बन गई।

मिन्क—

मिंक नामक जानवर पानी मे रहता है और इसके बाहर भी। इसका कसूर सिर्फ इतना है कि मुलायम बाल वाली इसकी खाल अत्यन्त मोहक एवं लुभावनी होती है। अतः मिंक पर कहर ढाया जा रहा है। रईस लोगो के

कोट की खातिर मिंक का व्यापक वध हो रहा है। "चिनचिला" नामक दक्षिणी अमेरिका के जानवर को भी मिंक की भांति अकारण सजा-ए-मौत सहनी पड़ रही है।

कराकुल--

कराकुल भेड़ के बाल बड़े घुंघराले और खाल अत्यन्त नरम होती है। मनचले लोग अपने शौक की पूर्ति के लिए इसी खाल के कपड़े या टोपी पहनना चाहते हैं। लेकिन मेमने के पैदा होते ही इसके बालों का मुलायमपन कम हो जाता है। अतः मादा भेड़ को गर्भावस्था में ही बेंतों से पीटा जाता है। इस कदर बेंतो से उस पर प्रहार किया जाता है कि उसके प्राण पखेरू उड़ जाएं। मरते ही उसके पेट से होने वाले मेमने को निकाला जाता है। क्रूरता की पाशविकता इससे अधिक क्या होगी कि उस मेमने की खाल जिन्दा अवस्था में ही उतार ली जाती है।

पर्स या सूटकेस—

लोग कहते है मगरमच्छ सदा मुंह खोल कर हँसता रहता है लेकिन लोगो की हँसी ज्यादा क्रूर है। मगरमच्छ को पानी से बाहर चालाकी से लाया जाता है और उसे जल विहीन परिस्थिति मे छटपटाने को मजबूर किया जाता है ताकि उसकी मौत करीब, और करीब आती जाए। यकायक उसकी नाक मे एक पैना छुरा घोंप दिया जाता है ताकि उसका जीवन समाप्त हो जाये।

मगरमच्छ की खाल पर बहुत लोग आख लगाए हुए हैं क्योंकि उसका उपयोग चमड़े के रूप मे महिलाओ के "पर्स" या "सूटकेस" आदि बनाने मे किया जाता है।

कुत्ता—

कुत्ता तो अंगरक्षक होता है। लेकिन आदमी उसकी जान का भी भक्षक बनता जा रहा है। बेशकीमती नस्ल के कुत्तों को एक साथ खड़ा करके उनके शरीर मे विद्युत का करन्ट प्रवाहित किया जाता है। कापते, सिहरते, कपकंपाते हुए कुत्तो का झुण्ड-का-झुण्ड दम तोड़ देता है। इनके नरम कान का उपयोग "पर्स" बनाने मे होता है।

शुतुर्मुर्ग—

हर छठे माह शुतुर्मुर्ग के पंख नोचे जाते हैं क्योंकि लोगों को इस विशालतम पक्षी के पंखो से प्यार है। पंख नोंच लिए जाने के बाद इसकी खाल नोची जाती है। खरोचने और नोंचने का यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि शुतुर्मुर्ग के प्राण पखेरु उड न जाएँ। खाल का थैला बन जाता है और पंख आपके टोप मे खोंस लिए जाते है।

रेशम--

रेशम तो देखी है। पहनी भी होगी ही। रेशम का कीड़ा देखा है? रेशम का धागा प्राप्त करने मे इसके कीड़े को जो मरणान्तक पीड़ा का सामना करना पड़ता है उसके बारे मे कभी अन्दाज भी लगाया है? रेशम के एक कुर्ते की खातिर कितने हजार कीड़ो की जीव हत्या होती है? किस पीड़ा से उन्हें मारा जाता है?

देखा आपने, मूक-जीवों को कितनी यातना दी जाती है? लोगो के सौन्दर्य-प्रसाधन हेतु? फिर भी पशु-पक्षियो की हत्या और उनके साथ अमानवीय व्यवहार जारी है। औसतन एक जानवर को जिन्दा पकड़ने या एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने मे ५-७ जानवर मर जाते हैं। हाल ही मे २० लाख जिन्दा मगरमच्छ अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे बेचने के लिए एक देश से दूसरे देश मे लाए गए। परन्तु इनमें से आधे तो रास्ते मे ही मर गए।

अहिंसा प्रेमियों को इस प्रकार के सौन्दर्य प्रसाधनो से सर्वथा बचना चाहिये। —सम्पादक

नीरक्षीरविवेके, हंसालस्यं त्वमेव कुरुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यःकुलव्रतं पालयिष्यति कः॥

—हे हंस, यदि तुम ही दूध और जल का भेद भाव बताने में प्रमाद करोगे तो बतलाओ इस संसार में और कौन व्यक्ति न्याय-पद्धति को अपनाएगा?

तीन

□ श्री बाबूलाल जैन (कलकत्ता वाले)

हर कार्य में तीन काम साथ-साथ होते हैं एक शरीर की क्रिया एक विकारी भाव या विकल्प और एक जानने की क्रिया। जानने की क्रिया आत्मा से उठती है। शरीर की क्रिया शरीर की ही है। रही विकारी भावों की बात वह भी पर के समक्ष मे होने वाली है। जानने की क्रिया बाकी दो क्रियाओं को जानती है उस रूप नही होती। शरीर को जानते हुए शरीर रूप नही होती—क्रोधादि भावों के होते उस रूप नही होती वह तो अपने रूप ही रहती है।

अगर हम खा रहे है तो वहाँ पर भी तीन कार्य हो रहे है शरीर की क्रिया—खाने का भाव और खाने मे रस आना और उसको जानने की क्रिया। जैसे हम दूर बैठ कर किसी दूसरे आदमी की क्रिया देखते है। वह बीमार है तो हम देख रहे हैं परन्तु बीमारी का भोक्ता वही है देखने वाला नही, अगर वह क्रोध कर रहा है तो उसका कर्ता भोक्ता वही है देखने वाला नही, अगर वह चलता है तो देखने वाला नही चलता वह तो अलग है अगर दूसरा बोल रहा है तो देखने वाला अबोला है। ठीक यही दशा आत्मा के जानने की है क्रोधादि होते है परन्तु देखने वाला तो देखने का ही काम कर रहा है। इस प्रकार उसके तीन क्रिया सब कामो मे होती है वह एक का मालिक है एक के साथ उसका अपनापना-एकत्वपना, अहम्पना है बाकी दो के साथ उसका अपनापना-एकात्मपना-अहम्पना नही है। पर की दो क्रिया होती है कभी क्रोध कर रहा है कभी क्षमा मांग रहा है। परन्तु जानने वाला तो मात्र जान ही रहा है वह तो न क्रोध करता है और न क्षमा मांगता है परन्तु इनका जानने वाला है। इसलिये यह कहना चाहिए कि वह खाते हुए खाता नही। चलते हुए चलता नही बोलते हुए बोलता नही। इस प्रकार कोई कहता है कि आपने खाना खाया वह कह सकता है खाना खाया गया यह मैंने भी देखा है इस प्रकार वह मात्र ज्ञाता है करता नही, भोक्ता नहीं।

जबकि एक दूसरा व्यक्ति है जो इस ज्ञाता को नहीं पहचानता वहाँ पर वह समझता है कि सब कुछ करने वाला मैं ही हूं वह शरीर की क्रिया का भी और विकारी भावों का भी दोनों का कर्त्ता। दोनों को अपने रूप जानता है और दोनों में अहम् बुद्धि रखे हुए है। वहां तीन नही दो ही है। जब ज्ञाता पकड़ मे नहीं आता तो विकार का करता बन जाता है और उसमे और शरीर में अहम् बुद्धि करता है। जिसमे अहम् बुद्धि होगी उसमे आसक्ति भी होगी। लौकिक में भी जिसको हम अपना मानते है उसमे आसक्ति होती ही है। यह आसक्ति तब तक नही छूट सकती जब तक अहम् बुद्धि नहीं छूटती। इसलिये जो लोग पर मे, शरीर से आसक्ति छोड़ना चाहते है उन्हे पहले उसमे से अहम् बुद्धि छोड़नी है तब आसक्ति अपने आप छूट जायेगी और अहम् बुद्धि तब तक नहीं छूटती जब तक ज्ञाता पकड मे नही आता। ज्ञाता पकड़ मे आने पर अहम्पना उसमे आयेगा तो पर में अहम् बुद्धि नही रहेगी और आसक्ति अपने आप छूट जायेगी। छोड़ना पर मे अहम् बुद्धि को है। यह Negative है यह कहना चाहिए कि अपने में अहम् बुद्धि लानी है यह Positive है। अज्ञानता क्या है, संसार क्या है, पर में अहम् बुद्धि। पर को छोड़ने से, उससे दूर भाग जाने से अहम् बुद्धि नहीं छूटेगी। परन्तु अपने को जानने से अहम् बुद्धि छूटेगी। अपने को नही जानना यही अज्ञान है और यही अज्ञान अनंत ससार, अनंत दुख है यही बन्धन है। उसका उपाय अपने को जानना है वह शास्त्र के द्वारा-शब्दों के द्वारा और गुरु के द्वारा भी नहीं होगा। वहाँ से तो आप स्व के बारे मे जानकारी कर सकते है। स्व के बारे में शास्त्र से जान सकते हैं परन्तु स्व को देख नहीं सकते उसे तो अपने

में ही देखना होगा। शास्त्रों मे देख कर पण्डित हो सकते हैं स्व के बारे में कथन कर सकते हैं परन्तु सबके मालिक नहीं हो सकते।

हमने पर को दुख का कारण आसक्ति का कारण समझ कर उसको तो करोड़ों दफे छोड़ा परन्तु पर मे अहम् बुद्धि नही छोड़ी। पहले पर के ग्रहण मे अहम् बुद्धि थी अब पर के त्याग में अहम् बुद्धि हो गयी पहले वाली से दूसरी ज्यादा खतरनाक होती है परन्तु अपने ज्ञाता में अहम् बुद्धि नहीं आई पर के ग्रहण से पर के त्याग मे तो बदल गयी परन्तु अपने में नहीं आई तो बाहर में तो बदला हुआ दिखाई देता है भेष बदला हुआ मालूम देता है परन्तु अन्तर में स्व में कुछ बदला नही है वह तो वैसा-का-वैसा ही है। इसलिये घर बदल गया परन्तु रहने वाला नहीं बदला—जिसको बदलना था।

जब पर में अहम् बुद्धि हट कर स्व में अहम् बुद्धि आ जाय तो आसक्ति तो अपने आप छूट गयी। जो रोकना है वह तो अहम् का ही है मकान के लिये कोई नहीं रोका मेरा चला गया उसके लिये रोता है। मकान कही नहीं जाता मात्र मेरा नही रहता। जहां मेरा है वहीं रस है जब मेरा नहीं रहा तो रस भी सूख गया। स्त्री नही जाती मात्र मेरी नहीं रहती और मेरा निकलने पर कुछ नही रहता। बच्चों के खेलने मे रस नही आता परन्तु मेरे बच्चे का रस आता है। इसलिये मेरापन ही रस पैदा करता है।

इस प्रकार हम अपने ज्ञाता को पकड़ें। ज्ञाता अपने आपको पर रूप देखता था वह अपने आपको अपने रूप देखे और अपने को अपने रूप जाने और अपने में ही लीन हो जाये यही मार्ग है। पर तो पर था ही वह कभी स्व हो नहीं सकता था उसको अज्ञानता से स्व मान लिया था अब अपना ज्ञान हुआ तो पर को पर रूप जाना पर को पर रूप देखा। अब जितना अपने मे ठहरे उतना पर का रस सूखने लगा पर की महिमा गयी। जितना स्व में ठहराव, लीनता बढ़े उतना विकार दूर हो और जितना विकार दूर हो उतनी बाहर में पर की पकड़ छूटती जाये। बाहर से देखने वाला कहता है त्याग दिया भीतर से देखने वाला कहता है पकड़ने को कुछ रहा ही नहीं। बाहर से देखने वाला कहता है त्याग कर चला गया। भीतर से देखने वाला कहता है जान कर चला गया। जान लिया यहां मेरा अपना कुछ नही तो फिर ठहरने को रहा ही नहीं।

इस प्रकार ठहराव बढता जाता है कार्य भीतर में हो रहा है बाहर मे तो उसका Reaction आ रहा है ८ बाहर से देखने वाला Reaction को धर्म समझता है उसको पुरुषार्थ समझता है और उस बाहरी Reaction की नकल करता है भीतर से देखने वाला जानता है पुरुषार्थ तो भीतर में है। स्व को जानने का पहला पुरुषार्थ और उसमे ठहरते जाना, ठहरते जाना और ठहरते-ठहरते उसमें पूर्ण रूप से लीन हो जाना यह दूसरा पुरुषार्थ है। ऐसा लीन हुआ कि बाहर में आने की जरूरत ही न रहा बस विकार का भी अभाव हो गया शरीर का भी अभाव हो गया मात्र ज्ञाता रह गया इसी का नाम मोक्ष है इसी का नाम परमात्मा होना है।

जैसे-जैसे निज को निज रूप देखता है विचार कम होने लगते है। पहले तीव्र क्रोधादि जाते है तब बाहर में अन्याय रूप आचरण मिट जाता है। बाहर से हटने लगता है फिर मंद क्रोधादि जाने लगते है तो बाहर में पंच महाव्रत रूप आचरण होने लगता है घर से प्रयोजन नही रहता। जब मंद मे मंदतर होते है तो बाहर की जरूरत नही रहती अपने में ही ध्यान में लीन हो जाता है। इस प्रकार "भीतर से बाहर का मिलन" है परन्तु "बाहर से भीतर का मिलन नही है।" हमने बाहर को पकड़ लिया भीतर को भूल गये। मूल को छोड़ दिया पत्तो को पकड़ बैठे है।

तत्व यह नही है कि उसने क्या छोड़ा। "तत्व यह है कि क्या उपलब्ध हुआ। त्यागा नही है पाया है।" जब हीरे मिल गये तो पत्थर कंकड़ छूट गये क्योंकि बेमाने हो गये। कंकड़-पत्थर को कुछ कीमत समझ कर पकड़ रखा था जब कंकड़ पत्थर दिखाई दे गये तो बेमाने हो गये। अपने आप छूट गये। महत्व छूट गया इसका नहीं है महत्व मिल गया इसका है। कोई ऐसी चीज मिल गयी कि उसके सामने चक्रवर्ती की विभूति भी कंकड़-पत्थर

(शेष आवरण पृष्ठ ३ पर)

श्रावक के दैनिक आचार

□ श्रीमती सुधा जैन एम० ए०

निर्माण और **निर्वाण** ये दोनों शब्द मौलिक हैं। निर्माण बनने बनाने को कहते हैं और निर्वाण मुक्ति या छुटकारा पाने को कहते है। दोनों ही में सुखनिहित है। यदि मानव अपना निर्माण उचित रीति से करले—अपने आचार और विचारों को सही रूप मे करले तो उसे ससारी जीवन मे भी सुख है। और यदि उद्यम द्वारा अपनी कर्म-कालिमा—रागादि कषायों को निर्मूल कर दे तब उसे मोक्ष मे भी सुख है। अब यह निर्णय मानव को स्वयं करना है कि वह इन दोनो मे से किसे पसन्द करता है? हाँ, इतना अवश्य है कि जो स्थिति आज है उसे देखते हुए यह अवश्य कहा जायगा कि आज का मानव-समाज मार्ग से बहुत कुछ भटक गया है।

जैन दृष्टि से यह पतमकाल है। इसने इस क्षेत्र से निर्वाण नही है। यदि निर्वाण पाना हो तो पहिले हमे अपना निर्माण करना पड़ेगा, अपने को बनाना होगा और उसी के आधार से हम विदेह क्षेत्र मे जन्म ले सकेगे और वहाँ से निर्वाण पा सकेंगे। अतः आइए, पहिले निर्माण की ही चर्चा करलें।

प्रश्न ये होते हैं कि—हमे निर्माण की आवश्यकता क्यों है? और यदि निर्माण करें भी तो क्या और कैसा? क्या वास्तव मे हमारा निर्माण नही हुआ है? हम पैदा नही हुए है क्या? या हम मनुष्य नही , क्या? आदि।

इसमे सन्देह नही, कि हम मनुष्य है और आकृति की अपेक्षा हमारा मनुष्य रूप में निर्माण भी हो चुका है। हमारे समान अन्य भी करोड़ों मनुष्य—आकृति से मनुष्य हैं। पर, मनुष्य का अर्थ इतना मात्र ही नही है कि आकृति ही मनुष्य रूप हो। इसके साथ कर्तव्य भी जुड़ा हुआ है। यदि हम मनुष्योचित कर्तव्यों को पूरा नही करते तो हम अपने आपको मनुष्य कहलाने के अधिकारी नहीं। यदि कर्तव्य को मानवता से पृथक् कर दिया जाय तो मनुष्य-मनुष्य और पशु-मनुष्य मे भेद ही मिट जायगा। क्योंकि मनुष्य भी आहार करता है और पशु भी आहार करता है। निद्रा, भय, मैथुन आदि की अपेक्षा भी पशुओं और मनुष्यों मे कोई भेद नहीं है। अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि कर्तव्य प्रमुख है। और वह इसलिए कि—मनुष्य को पशु-पक्षी और अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि-विशेष मिली हुई है। अन्य प्राणियों का ज्ञान खाने-पीने और विषय भोगों तक ही सीमित है। बाह्य-जगत में हम देखते है कि मनुष्य नव-निर्माण करता है। आज तो वह चन्द्रलोक तक पर राज्य करने की योजना बना रहा है। यह सब बुद्धि और ज्ञान विशेष का ही प्रभाव है—पशु-पक्षियो मे ये बातें कहा?

आस्तिक-जगत—जो आत्मा तथा इस लोक और पर-लोक मे भी विश्वास रखता है, की ऐसी मान्यता है कि आत्मा जैसे भले बुरे कार्य करता है उसे अगले जन्म में भोगना पड़ता है। इस जन्म मे हम जिन्हे सुखी-दुखी देखते हैं वे उनके किए कर्म फल ही हैं। यज्ञ-आदि क्रियाकाण्डों में विश्वास रखने वाले क्रियाकाण्डी, यज्ञादि क्रियाओं को 'कर्म' कहते है। पौराणिक लोग व्रत-त्याग-नियम आदि को कर्म मानते हैं और जैन-दर्शनकार फल-शक्ति सहित पुद्गल (कार्माण) वर्गणाओं को 'कर्म' मानते हैं। आत्मा जब कषाययुक्त होता है, तब उसमें मन-वचन-काय संबंधी क्रिया होती है और उस क्रिया के अनुसार उसे उसका फल आगामी काल मे भोगना पड़ता है। इस प्रकार फल भोगने की बात सभी को स्वीकार है। और क्रिया के अनुसार ही फल होगा ऐसा भी सभी को स्वीकार है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि यदि हम शुभ-फल—सांसारिक सुख चाहते हैं, तो हमे अच्छी क्रियाओं का आचरण करना चाहिए। बस, इसी शुभ-क्रिया की ओर लगना हमारा निर्माण है। और जब हम अपना निर्माण कर लेते है, तब निर्वाण का मार्ग भी हमें सरल दीख पड़ेगा।

अब सोचना यह है कि जिन क्रियाओं को शुभ नाम से कहा जाता है, वे क्रियाएँ कौन-सी हैं ?

यद्यपि लोक में विविध प्रकार की असख्यातों क्रियाएँ हैं। सबका लेखा-जोखा करना संभव नही। तथापि उनके मूल पर प्रकाश डालने के लिए यहाँ कुछ आवश्यक मुख्य क्रियाओं का वर्णन किया जाता है।

तीर्थंकर-महावीर और उनसे पहिले के तेईस तीर्थंकरों ने धर्म[१] का उपदेश दिया। उन्होने धर्म-पालकों को चार श्रेणियों में विभाजित किया। वे चार श्रेणियाँ है—(१) साधु (२) साध्वी (३) श्रावक (४) श्राविका। धर्म-पालक होने से ये 'तीर्थ'—पवित्रता के स्थान भी कहलाए। इनकी स्थापना करने के कारण चौबीसों महापुरुष तीर्थंकर कहलाए। इन चारों में साधु और साध्वी अन्तिम पदवी हैं और ये पद सांसारिक समरभ-समारंभ-आरंभ से ऊँचे उठे स्थान है। श्रावक और श्राविका प्रारंभिक श्रेणियाँ है। इस प्रकरण मे हमारा लक्ष्य इन्हीं प्रारंभिक दो श्रेणियो पर है। यदि हम इनमे खरे उतरते है तो ऐसा समझना चाहिए कि हमारा प्रारंभिक निर्माण हो रहा है। प्रसंग के अनुसार यहाँ 'श्रावक' का अर्थ भी जान लेना आवश्यक है। फलतः—

श्रावक शब्द का भाव अति महत्व के ऐसे पद से है जो मोक्ष में सहायक हो। जो तीर्थंकरों की वाणी को श्रवण करता है, तदनुरूप आचरण करता है, उसे श्रावक कहते हैं। यदि हम श्रावक शब्द का ग्रामीण रीति से विश्लेषण करना चाहे, तो इस प्रकार कह सकते है कि—श्रावक शब्द में तीन वर्ण हैं—श्रा+व+क। श्रा से श्रद्धा, व से विवेक और क से क्रिया का भाव है, और ये तीनो मोक्ष के साधन हैं। कहा भी है—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।'—तत्त्वार्थसूत्र १।१ अर्थात् सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र पूर्ण और समुदित रूप से मोक्ष के मार्ग है। व्यवहार मे भी इन तीनो के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। यथा—

मान लीजिए, एक रोगी पुरुष है। उसे औषधि पर विश्वास है और ज्ञान नही है कि औषधि कहाँ किस प्रकार प्राप्त होगी, तो वह निरोग नही हो सकता और यदि उसे श्रद्धान ज्ञान दोनों हैं और दवाई का प्रयोग नहीं करता—दवाई एक ओर रखी रहती है, तब भी उसके रोग का उपचार नही होता। रोग का उपचार तब ही होगा जब रोगी में श्रद्धा-ज्ञान और आचरण तीनों की पूर्णता हो! इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र को जानना चाहिए। जो इन तीनों की ओर प्रवृत्त हो उसे श्रावक कहा जायगा।

जहाँ तक श्रद्धा की बात है, वह बहुत गहरी और भावात्मक क्रिया है। यह जानना बड़ा कठिन है कि किसकी श्रद्धा किस रूप में, कैसी है ? अतः हमे इस प्रसंग में इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि यदि कोई जीव अपने भावों मे सरलता रख कर मोह को कम कर रहा है, उसके आचार-विचार या क्रिया काण्ड से स्वय या अन्य को बाधा नहीं पहुच रहा है, वह निवृत्ति मार्ग की ओर जा रहा है तो वह श्रद्धालु-ज्ञानी और सदाचारी होने के नाते श्रावक है। यह श्रावक का व्यवहार एव स्थूल रूप है। मोक्ष के प्रसंग मे श्रद्धा ज्ञान चारित्र का विशदरूप है और वह मुनिवृत्ति से बँधा हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में तो बाह्य लोक-व्यवहार को भी साथ लेकर चलने की बात है। अस्तु,

जैनाचार मे श्रावक के लिए कुछ मर्यादाएँ रखी गई हैं जिनसे श्रावक को अपने पद मे स्थिर रहने मे सहायता मिलती है। और वह सन्मार्ग से गिरने या कुमार्ग मे जाने से बच जाता है। इन मर्यादाओं को व्रत-नियम-यम आदि के नामों से सबोधित किया जाता है। वैसे तो समयानुसार हम श्रावकों को दो श्रेणियों मे विभक्त कर सकते है—एक अव्रती श्रावक और दूसरे व्रती श्रावक। जिन्होंने प्रत्यक्षतः कोई व्रत तो न लिए हो, पर श्रद्धा के साथ कुछ स्थूल नियमों का पालन करते हों, जैसे शराब न पीना, मांस न खाना, मधु आदि हिंसा से उत्पन्न होने वाले पदार्थ और नशीली चीजें सेवन न करना, तुच्छ जीवों से पूरित फल-फूल वनस्पति आदि न खाना, पीना छान कर पानी, रात्रि भोजन न करना आदि। जिनके परिणाम सरल और यथाशक्ति श्रद्धा-ज्ञान-चरित्र के अनुकूल हो, पर शक्ति न मानकर व्रतो को ग्रहण न कर सके हो—नियमों मे न बँध सके हों।

व्रती श्रावक वे हैं जो बारह व्रतों में न्यूनाधिक बँधे रहते हैं और पापों का स्थूलरीति से त्याग किए रहते हैं।

बारह व्रत इस प्रकार हैं—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षा-व्रत। इन व्रतों का वर्णन करने से पूर्व इतना संकेत और कर दें कि इन व्रतों के पालन के साथ-साथ श्रावकों के ६ आवश्यक कर्म (कार्य) प्रतिदिन के और भी बतलाए गए हैं। सभी श्रावकों को धर्म में स्थिर रहने के लिए इनका यथाशक्ति—सुविधानुसार पालन करना अत्युपयोगी है। वे छह आवश्यक कार्य इस प्रकार है—(१) देव पूजा, (२) गुरु-उपासना, (३) स्वाध्याय, (४) संयम (५) तप और (६) दान।

(१) देव-पूजा—परम-शुद्ध आत्माओं को देव शब्द से संबोधित किया जाता है। और जैन-दर्शन में इन्हें परमात्मा कहा गया है। ये देव दो प्रकार के हैं—सकल-परमात्मा और निकल परमात्मा जो संसारी आत्मा अपने आत्मोद्यम से कर्मों को पूर्ण रूप से क्षय करके संसार से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाते है वे नि-कल अर्थात् शरीर-रहित—सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। और जो क्षुधा, पिपासा, बुढापा, रोग जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह आदि से रहित होकर भी शरीर मे वास करते हैं, वे सकल अर्थात् शरीर सहित—अरहत परमात्मा कहलाते है। दोनों ही प्रकार के परमात्मा आत्मा के परमोत्कर्ष को प्राप्त होते है और वीतराग तथा सर्वज्ञ होते हैं। अरहत परमात्मा हित पूर्ण उपदेश भी देते हैं। इनको सांसारिक सभी प्रकार की झंझटों से कोई प्रयोजन नही होता।

चूंकि जैन-दर्शन के अनुसार संसार का प्रत्येक जीव अनन्त शक्तियां अनन्त रूप मे रखता है और वह प्रतिबंधक कर्मों का अन्त करके उन्हे सदा के लिए प्रकट भी कर सकता है। अत: इस ओर लक्ष्य देने और बार-बार शुद्ध आत्माओं का ध्यान-मनन-आराधन करने से उसका मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिए देव-पूजा का शास्त्रों में विधान किया गया है और श्रावक को इसका नियमित आचरण बतलाया है।

(२) गुरु उपासना—जो इन्द्रियों संबंधी सांसारिक विषयों के सेवन और उनकी आशा मात्र का भी परित्याग कर देते हैं, किसी प्रकार के भी संसार बढ़ाने-वाले कार्यों को नहीं करते, किसी प्रकार का परिग्रह (बहिरंग व अंतरंग) नहीं रखते-पर विकारों से उभयथा यानी अंतरंग-बहिरंग दोनों परिग्रहों से सर्वथा रहित—नग्न-परमनग्न होते हैं और ज्ञान, ध्यान तप में लीन रहते हैं—वे गुरु कहलाते हैं। ऐसे गुरुओं की उपासना करने से वीतराग मुद्रा के प्रति श्रद्धा होती है—वीतरागता का पाठ भी मिलता है। ये मुद्रा मोक्षमार्ग की प्रतीक है। अत. श्रावक को गुरु-उपासना परमोपयोगी है।

(३) स्वाध्याय—अर्हन्त सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट और गुरु परंपरा से उपलब्ध-वाणी—जिन वाणी, जिसका किसी के द्वारा खण्डन नही किया जा सकता और जो स्याद्वादमयी होने से पूर्वापर विरोध रहित है, का पठन-पाठन, मनन चिंतवन करना स्वाध्याय कहा गया है। आत्मा आदिक पदार्थों का इससे विस्तार पूर्वक प्रशस्त ज्ञान होता है और वह ज्ञान ही आत्म-साधना में उपयोगी है। श्रावक को इससे लाभ होता है और वह मोक्षमार्ग में लगता है।

(४) संयम—अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखना, जीवों की रक्षा करना संयम कहलाता है। इन्द्रियों को वश मे किए बिना किसी प्रकार भी उद्धार नहीं हो सकता। अतः इन्द्रियों को वश मे करना और सब जीवों को अपने समान समझकर उनकी रक्षा करना परमोपयोगी है।

(५) तप—मनुष्य की इच्छाएँ संसार परिभ्रमण में प्रमुख कारण है जब तक इच्छाओं को कम नहीं किया जायगा—रोका नहीं जायगा तब तक अशान्ति ही रहेगी! इच्छाएं कभी शान्त नहीं होतीं। जैसे अग्नि, घी डालने से बढ़ती ही है. वैसे ही एक इच्छा के पूर्ण होने के बाद दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है, अतः इच्छाओं को रोकना चाहिए। इन्हे रोकना ही परम तप है—'इच्छा-निरोधस्तप:।'—

(६) दान—उपकार के लिए अपनी वस्तु—जिसके द्वारा जीवों की प्रवृत्ति धर्म में होती हो, आत्म-हित की दृष्टि से उन्हें शान्ति मिलती हो—या उनका भौतिक दु.खों से निस्तार होता हो—पर-हेतु देना 'दान' कहलाता है। दान में दाता और पात्र दोनों का हित-निहित है। दान लोकोपयोगी और धर्म को बढ़ाने वाला हो, ऐसा ध्यान रहना आवश्यक है।

—स्टेट बैंक आफ इंडिया, श्रीगंगानगर

शंका शल्य

□ श्री रत्नत्रयधारी जैन

ज्ञान के भेद अनन्त हैं। सामान्य दृष्टि से समझा जा सके अतः श्रमण महावीर ने ज्ञान के मुख्य पांच भेद कहे है। प्रथम मति, द्वितीय श्रुत, तृतीय अवधि, चतुर्थ मनः पर्यय और पंचम केवल ज्ञान (सम्पूर्ण स्वरूप) है।

वस्तु के स्वरूप को जानने का नाम ज्ञान है। वस्तुएं अनन्त हैं। अनन्त वस्तुएं अनत अंगो की अपेक्षा से है। मुख्य वस्तुत्व स्वरूप से जानने योग्य पदार्थ जीव और अजीव हैं।

काल भेद से इस समय मात्र मति और श्रुत ये दो ज्ञान विद्यमान है। शेष तीन ज्ञानों का अभाव है। फिर भी जब श्रद्धा भाव से नव-तत्व ज्ञान के विचारों का मन्थन किया जाता है तो हमें आत्म-प्रकाश, आनन्द, समर्थज्ञान की स्फुरण का नवनीत प्राप्त होता है। पुनः पुनः मनन करने से चंचलमन सद्धर्म मे स्थिर हो जाता है।

ज्ञान क्या है। जो आत्मा है वह जानता है जो जानता है वह आत्मा है। ज्ञान आत्मा का गुण है। ज्ञान आत्मा में अवस्थित है। आत्मा और अनात्मा में अत्यन्ताभाव है। आत्मा (जीव) कभी भी अनात्मा (अजीव) नही बनता है। और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता है। स्वाध्याय तप है। इससे सत्यासत्य का विवेक प्राप्त होता है दोषमुक्ति व कर्ममुक्ति के लिये एकाग्रता होती है जो व्यक्ति को आत्मनिष्ठ बनाती है। मन का केन्द्रीकरण स्वभावोन्मुख है।

ज्ञान की क्या आवश्यकता है। आत्मा की सकर्म-स्थिति से अनादिकाल से इस लोक में चतुर्गति में भ्रमण है। इस पर्यटन का कारण अनंत दुखद ज्ञानावरणीयादि कर्म हैं। आत्मा स्वरूप को पा नहीं रही है। विषयादिक मोह बंधन को स्वरूप मान रही है। इस संसार में निमेष मात्र भी सुख नहीं है। क्या हम निरन्तर इसका अनुभव नहीं करते हैं। असह्य दुखों को अनंत बार सहन किया है। स्वयं अनुभव करते है तथा असहाय रूप होकर दूसरी आत्माओं को इस दुखद स्थिति मे, दुखद तथा रौद्र रूप से अनंत बार सहन करते हुये, अवलोकन करते हैं। दुख अज्ञान से पैदा होता है और अज्ञानादिक कर्म के सहन करने से उसका अन्त नही दिखाई देता है। इसको दूर करने के लिये ज्ञान की परिपूर्ण आवश्यकता है।

अगर ज्ञान की आवश्यकता है तो उसे प्राप्त करने के साधनों के विषय पर विचार करना पड़ेगा। सभी मनुष्य या अधिकतर लोग आत्मज्ञान को प्राप्त नही कर पाते है। आत्मज्ञान पूर्ण ज्ञानी (केवली) के वचनामृत की श्रुति तथा श्रद्धा से ही हो सकता है। श्रुति के बिना संस्कार नहीं। यदि सस्कार नहीं होवे तो श्रद्धा कहां से हो? जिज्ञासु भव्य होना परम आवश्यक है।

धर्म ध्यान से परिणामों की विशुद्धि होगी। शुद्ध परिणामों से भवांत हो जायेगा। धर्मध्यान के चार लक्षण हैं। आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और उपदेशरुचि है। धर्मध्यान के चार आलंबन है। वाचना, प्रच्छना, परावर्त्तना और धर्मकथा।

इस लेख का विषय पृच्छना है। शंका शल्य के निवारण के लिए—गुरु अथवा अपने से अधिक ज्ञानी से प्रश्न पूछने को पृच्छनालम्बन कहते है।

संत-समागम में भी यह मार्ग शंका समाधान का निहित है।

इन्द्रभूति ब्राह्मण (गौतम गणधर) की शंका का निवारण सन्मति भगवान के दर्शन मात्र से हो गया था। दिव्य-ध्वनि का खिरना तथा गणधर का प्रश्नकर्ता को उपदेश देना और उससे जिज्ञासु की शका का समाधान हो जाता था। आचार्यों की सभा में प्रश्न उत्तर की परम्परा थी।

(शेष पृष्ठ ४० पर)

जीवन्धर चम्पू में आकिञ्चन्य

□ कु० राका जैन

ग्रन्थ परिचय—गद्य-पद्य से भिन्न किन्तु दोनो से समन्वित काव्य चम्पू काव्य कहलाता है। जीवन्धर-चम्पू काव्य-प्रणेता महाकवि हरिचन्द्र ने स्वयं चम्पूकाव्य-वरीयता को उद्घाटित किया—

गद्यावली पद्यपरम्परा च,
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्षं प्रकर्षं तनुते मिलित्वा,
द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता ॥१।६

अर्थात् गद्यावली और पद्य परम्परा ये दोनों पृथक्-पृथक् भी आनन्द उत्पन्न करती है फिर जहाँ दोनों मिल जाती हैं वहाँ की तो बात ही निराली है, वहाँ वे दोनो शैशव और तारुण्य के बीच विचरने वाली कान्ता के समान अत्यानन्द देती है।

महाकवि हरिचन्द्र के समान ही विविध चम्पू-काव्य सृजेताओं ने चम्पू के गद्य-पद्य-मिश्रण को वाद्य समन्वित सगीत माध्वीक और मृद्वीक अथवा सुधा और माध्वीक के सम्यक् योग से प्राप्त आनन्द एव इसके सौन्दर्य को पद्म-रागमणि संयुक्त मुक्तामाला अथवा कोमल-किसलय कलित तुलसीस्रक् सदृश मनोरम माना है।

इस प्रकार चमत्कार प्रधान, गद्य-पद्य-गुम्फित एव मानव-मानस-मञ्जुलचम्पूकाव्य महावीरस्वामी के समकालीन क्षत्रचूडामणि जीवन्धरस्वामी का जिसमे जीवन-चरित निरूपित है—'जीवन्धर चम्पू' नाम से विश्वविख्यात हुआ। सम्पूर्णकथा अलौकिक घटनाओं से भरी है रञ्जकता को देखते हुए आलोचकों की मन्त्रणा रही है कि काश! इसका चित्रपट बन जाता तो अनायास ही यह आदर्श लोगों के मध्य उपस्थित हो जाता। विषय-वस्तु ११ लम्भों में व्यवहृत है जिसकी रोचकता अकथनीय है।

जीवन्धरचम्पू में आकिञ्चन्य—यद्यपि जीवन्धर चम्पू शृंगार-प्रधान काव्य है तथापि उसमें यत्र-तत्र अकिंचन का भाव परिलक्षित होता है। अकिंचन का अर्थ है—किञ्चित् मात्र भी न रहना अथवा मोह जनित विचारों को त्यागना अर्थात्-अपरिग्रहवाद। अपरिग्रह (आकिंचन्य) रूपी साधन का सहारा लेकर जैन साधक साध्य (मुक्ति-पद) को पा सके। अतः जैन धर्म के उत्कृष्ट लक्ष्य की उपलब्धि हेतु अकिंचन का आश्रय लेना परमावश्यक है। जीवन्धर स्वामी जिनका सम्पूर्ण जीवन राजवैभव एवं कामिनी वैभव के मध्य व्यतीत हुआ उन्होंने भी अन्ततोगत्वा आकिंचन्य धर्म का सहारा लेकर निर्वाण पद को पाया। जीवन्धर स्वामी के सदृश ही जीवन्धर चम्पू मे चित्रित चरित्रों के मध्य भी अकिंचन-तत्त्व दर्शित होता है। ग्रन्थ के प्रथम लम्भ मे ही राजा सत्यन्धर अकिंचन-धारक के रूप में उपस्थित होते है। जीवन्धर चम्पू में व्यवहृत आकिञ्चन्य-निरूपण निम्न पात्रों के माध्यम से पाठकों के मध्य उपस्थित हो सकता है—

नृपराज सत्यन्धर का आकिञ्चन्य—जीवन्धर-जनक सत्यंधर नृपराज सुखपूर्वक जीवन-यापन करने के लिए राज्यभार को मन्त्री काष्ठाङ्गार पर सौंप देते हैं और राज्य की तरफ से चिन्तारहित होकर विजयारानी के साथ जीवन घड़ी को चलाते है कि यकायक वही काष्ठाङ्गार अधिपति बनने की इच्छा से राजा के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर देता है। प्रतिकार रूप में नृप रानी विजया के मना करने पर भी एकाकी ही रणभूमि में पहुंच जाते है। स्व-बाहुबल से अनेक प्रतिद्वन्द्वियों को मौत के घाट उतार देते है। दोनों ओर से घोर युद्ध होता है कि यकायक नृपराज के मनोभाव होते है कि—"जिस राज्य के लिए हम युद्ध कर रहे हैं, न जाने कितने ही जीवों की मेरे द्वारा हिंसा हो रही है, न जाने कितने घृणित कार्य मेरे द्वारा हो रहे हैं, क्या वह मेरे साथ

जायेगा ? राज्य ही क्या, कोई भी मेरा नहीं, मुझे इसमे रंचमात्र भी ममत्व नहीं।"

इस प्रकार मानव में अकिंचनपूर्ण भावों के आगमन के साथ ही उन्होंने युद्धस्थल में ही मुनि दीक्षा ले ली। एवंविध राजा सत्यंधर हमारे सम्मुख अकिंचन-पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। वस्तुत: प्रधानता है उन मनोभावों की, जो राजसी भोग में लिप्त था वही कुछ क्षण बाद आकिञ्चन्य-धर्मी के रूप में प्रस्थित हुआ।

नायक जीवन्धर स्वामी का आकिञ्चन्य—जीवन्धर चम्पू के अन्तर्गत जीवन्धर स्वामी की आकिंचन्य-प्ररूपणा उल्लेखनीय है क्योंकि राजैश्वर्य के साथ साथ गन्धर्वदत्ता प्रभृत् अष्ट रानियों के सुख के मध्य आकिंचन्य धर्म का अवलम्बन लेकर मुक्ति पदवी को पाना यथार्थत: आश्चर्य का विषय है। उन्होंने जीवन में पद-पद पर अणुव्रत रूप में अकिंचन-धर्म का आश्रय लिया और अन्त में उसी अणु रूप को महाव्रत के रूप में परिवर्तित किया और इस संसार-पाश से मुक्ति पाई।

क्षेमश्री के परिणयोपरान्त क्षेमपुरी से निकल कर, अपने मणिमयी आभूषणों को देने की इच्छा होने पर जीवन्धर स्वामी को एक कृषक दिखलाई दिया उन्होंने उसे पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का सम्यक् उपदेश दिया। जिनमें पंचाणुव्रत के अन्तर्गत परिग्रहपरिमाणाणुव्रत आकिञ्चन-भाव से ओत-प्रोत है। उन्होंने उस किसान से कहा कि जिस प्रकार बैल द्वारा धारण करने योग्य भार उसका बछड़ा धारण नहीं कर सकता उसी प्रकार मुनि द्वारा धारण करने योग्य व्रत को गृहस्थ धारण नहीं कर सकते। गृहस्थ के लिए अणुव्रत ही परमोपयोगी है। —(क्रमश:)

(पृष्ठ ३८ का शेषांश)

वैदिक साहित्य में भी धर्म चर्चा और संत समागम की प्रणाली रही है। पुराणों और उपनिषदों में प्रश्न और उत्तर के रूप मे धर्म चर्चा की गई है। गीता मे नर (अर्जुन) को नारायण (श्रीकृष्ण) द्वारा आत्मोपदेश इसी प्रकार से दिया गया है।

यूनान में सुकरात प्लूटो, अरस्तू दार्शनिको ने इसी मार्ग को अपनाया था। चर्चा करने तथा उत्तर देने वाले के अपने ज्ञान का संवर्धन होता है तथा सुनने वाले को एकाग्रता प्राप्त होती है।

जैन समाज में संध्या व रात्रि की शास्त्र सभाओं का यही प्रयोजन था। निश्छल मन से चर्चा से, सुनाने वाला तथा सुनने वाला दोनों आत्मविभोर हो जाते है। वीतराग के एक सैद्धान्तिक शब्द से ज्ञानावरणीय का बहु क्षयोपशम होता है।

शंका समाधान की चर्चा से कितना बड़ा उपकार हो सकता है उसका ज्वलन्त उदाहरण पं० प्रवर पं० टोडर मल जी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी है। पं० जी ने अपने पत्र में कहा कि "तुम्हारे चिदानन्द घन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए। सो भाई जी ऐसे प्रश्न तुम सारिखे ही लिखें अवार वर्तमान काल में अध्यात्म के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की वार्ता भी करै हैं, सो ही कहा है—

तत्प्रति प्रीत चित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चित स: भवेद्भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम्॥

पद्मनन्दि पंच विंशतिका (एकत्वशीति: २३)

अर्थ—जिहि जीव प्रसन्नचित करि इस चेतन स्वरूप आत्मा की बात ही सुनी है, सो निश्चय कर भव्य है। अल्पकाल विषै 'मोक्ष का पात्र है।'

सो भाई जी तुम प्रश्न लिखे तिसके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार कुछ लिखिए है सो जाननाऔर अध्यात्म आगम की चर्चा गर्भित पत्र तो शीघ्र शीघ्र दियो करो, मिलाप कभी होगा तब होगा। अर निरन्तर स्वरूपानुभव मे रहना श्रीरस्तु:" (पूरी चिट्ठी आगामी अंक मे)

इस पत्र तथा अन्य पत्रों और समाधानो का इतना प्रभाव हुआ कि जो विस्मयमयी है। मुलतान समाज के जैन बन्धु ओसवाल थे तथा श्वेताम्बर (स्थानकवासी) आम्नाय के मानने वाले थे। परन्तु बाद में दिगम्बर आम्नाय में आकर निर्ग्रंथ धर्म को पालना प्रारम्भ कर दिया। ओसवाल बन्धु सारे भारतवर्ष मे श्वेताम्बर (स्थानक के वासी व मन्दिर मार्गी) हैं, परन्तु मुलतान के ओसवाल बन्धु इसके अपवाद हैं।

८, दरबा, जनपथ, नई दिल्ली

साहित्य-समीक्षा

१. श्री समयसार कलश (टीका)—अनुवादक : श्री महेन्द्रसेन जैनी। प्रकाशक : वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२। प्रथमावृत्ति, १९८१, छपाई आदि उत्तम : पृ० सं० २७६ मूल्य ७ रु०। प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य अमृतचन्द्र जी की आध्यात्मिक कृति समयसार कलश पर पं० श्री राजमल जी की ढूंढारी भाषा का हिन्दी रूपान्तर है। इसमे विषय को सरल रूप में ग्राह्य बनाया गया है, साधारण से साधारण रसिक भी अल्प प्रयास से वस्तु तत्व के अन्तस्तल का स्पर्श कर सकता है। प्रारभ में श्री बाबूलाल जैन (कलकत्ते वाले) द्वारा लिखी २८ पृष्ठो की मौलिक प्रस्तावना है। ग्रन्थ आध्यात्मिक-रसिकों के लिए परम उपयोगी सिद्ध होगा और यदि उपयोग लगावें तो इसके सहारे वे समयसार—आत्मा के शुद्ध रूप तक पहुंच सकेंगे ऐसा हमे विश्वास है। ग्रन्थ सग्रहणीय है।

२. अन्तर्बोध—लेखक : डा० नरेन्द्रकुमार सेठी : प्रकाशक : हीरा भैया प्रकाशन इन्दौर, पृ० सं० ७६। मूल्य ३ रुपया।

पुस्तक मे लेखक ने सोलह निबन्धो के माध्यम से मन:-स्थितियो पर प्रकाश डालने का उत्तम प्रयास किया है। पुस्तक पढ़ने से मन की स्थितियों के साथ लेखक की आध्यात्मिक रुचि का भी सहज बोध होता है—पुस्तक के प्रारम्भ मे मुनि श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वचन मे सभी निहित हैं—कुछ लिखना शेष नही रहता। पुस्तक उपयोगी है। साधुवाद।

३. जय गुंजार—(स्वाध्याय प्रेमी स्मृति अंक) स्थानकवासी साधु श्री चादमल जी म० सा० की बारहवी पुण्य स्मृति के अवसर पर प्रकाशित, 'जय गुंजार' वर्ष ४ का ८९ अक १६६+३०=१९६ पृष्ठो में सजाया गया उत्तम अक है। जो सपादक डा० पी० सी० जैन तथा डा० तेजसिंह गौड की जागरूकता का सहज परिचय देता है। अंक में साधु जी के विविध प्रसगो पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए उन्हे श्रद्धांजलियां भेंट की गई है। मुख्य बात विविध आयामों से स्वाध्याय विषय पर प्रकाश की है, जिससे पाठको को मार्ग दर्शन की सामग्री उपलब्ध होती है। स्वाध्याय संबंधी लेख मननीय है। संकलन के लिए साधुवाद :

४. मूलचंद किशनदास कापडिया अभिनंदन ग्रंथ—प्रकाशक : डाह्याभाई कापडिया सूरत। पृष्ठ २३२ मूल्य बीस रुपए।

कापडियाजी के विषय में जो लिखा जाय अल्प होगा। वे जैन समाज के अग्रदूतो में से थे और ऐसे अग्रदूत जो आंधी मेह की परवाह किए बिना पथ पर सदा ही बढ़ते रहे! जैनमित्र और अन्य प्रकाशनो के माध्यम से तो आपने समाज के उत्थान मे योग दिया ही : वे यत्र-तत्र भ्रमण करके भी यथावसर जनता को लाभ देते रहे। धार्मिक और सामाजिक चेतना जाग्रत करने मे सेठ माणिकचद जी व पू० ब्र० शीतलप्रसाद जी के कार्य में भी परम सहयोगी रहे।

उक्त प्रकाशन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मात्र है। प्रयत्न सराहनीय है। —सम्पादक

(पृष्ठ ३४ का शेषांश)

हो गयी। उसके मिलने का महत्व है उसकी महिमा है। छोड़ा तो कंकड़ पत्थर है उसकी क्या महिमा है कि कितना छोड़ा है।

यहाँ पर एक बात ज्यादा गौर करने की है कि किसी व्यक्ति को वास्तव में तो स्व की प्राप्ति अथवा ज्ञाता की उपलब्धि हुई नहीं "परन्तु शास्त्र के शब्दों को पकड़ कर बोलने की कला सीख कर अपने को भ्रम से मान बैठा कि सत्य मिल गया" वह व्यक्ति अपने को ज्ञाता मान लेगा और बाहर में यद्वातद्वा गलत प्रवृति करेगा उसको वास्तव में सत्य उपलब्ध नहीं हुआ। पुस्तक में शब्द रूप सत्य के बारे में पढ़ कर यह समझ लिया है कि सत्य मिल गया वह खतरनाक व्यक्ति सिद्ध होता है।

Regd. with the Registrar of Newspaper at R. N. 10591 62

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ६-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, प० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन ३ ००

न्याय-दीपिका : आ० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक प हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २५ ००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००

ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००

श्रावक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००

जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : सं० प० बालचन्द सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००

समयसार-कलश-टीका : कविवर राजमल्ल जी कृत ढूंढारी भाषा-टीका का आधुनिक सरल भाषा रूपान्तर : सम्पादनकर्ता : श्री महेन्द्रसेन जैनी। ग्रन्थ मे प्रत्येक कलश के अर्थ का विशद-रूप में खुलासा किया गया है। आध्यात्मिक रसिकों को परमोपयोगी है। ७-००

Jain Monoments : टी० एन० रामचन्द्रन १५-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००

Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)

सम्पादन परामर्श मण्डल—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, सम्पादक—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—रत्नत्रयधारी जैन वीर सेवा मन्दिर के लिए, कुमार ब्रादर्स प्रिंटिंग प्रेस के-१२, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२ से मुद्रित।